रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की
एम.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक
प्रो० मैनेजर पांडेय

शोधकर्ता
धर्मनारायण यादव

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

2003

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067

Centre of Indian Languages

Date: 17.07.2003

DECLARATION

I declare, that the material in this dissertation entitled **"RANGEYA RAGHAV KI AALOCHANA DRISHTI"** submitted by me is an original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

(DHARM NARAYAN YADAV)
Research Scholar

(PROF. MANAGER PANDEY)
SUPERVISOR
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature
and Culture Studies,
Jawaharlal Nehru University
New Delhi – 110067

(PROF. NASEER AHMAD KHAN)
CHAIRPERSON
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi- 110067

Gram : JAYENU Tel. : 6107676, 6167557 Telex :031-73167 JNU IN Fax : 91-011-6865886

सादर समर्पित

माता श्रीमती सुभद्रा देवी को
जिन्होंने इन आँखों को बड़े-बड़े
सपने दिये

पिता श्री देशराज यादव को
जिन्होंने श्रम को ही हमेशा
'मूल्य' माना

चाचा श्री रामजी यादव को
जिन्होंने स्नेह और भावनाओं को ही जिन्दगी
का सबसे बड़ा सत्य माना

अनुक्रमणिका

पहला अध्याय 1-28

प्रगतिशील आलोचना और रांगेय राघव

1. प्रगतिशील आलोचना से पूर्व हिन्दी आलोचना
2. प्रगतिशील आलोचना
3. रांगेय राघव का हिन्दी आलोचना में प्रवेश

दूसरा अध्याय 29-65

प्रगतिशील आलोचना के विवाद और रांगेय राघव

1. विवाद की शुरूआत
2. प्रगति, प्रगतिशीलता और प्रगतिवाद
3. विवादों के बीच प्रगतिशील लेखक संघ
4. यथार्थवाद और विचारधारा
5. परम्परा का मूल्यांकन
6. भाषा की समस्या
7. कुछ और विवाद

तीसरा अध्याय 66-89

रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि

1. सभ्यता-समीक्षा
2. संस्कृति, दर्शन और धर्म की सामाजिक व्याख्या
3. भारतीय पुनर्जागरण
4. राम कथाओं की तुलना
5. आधुनिक हिन्दी कविता : प्रेम, शृंगार, विषय और शैली

चौथा अध्याय 90-115

रांगेय राघव की प्रगतिशील आलोचना को देन

1. गोरखनाथ के महत्व की पहचान
2. संतों और भक्तों के सामाजिक आधार की खोज
3. हिन्दी साहित्य : वर्ण, वर्णाश्रम और ब्राह्मणवाद
4. साहित्य में सापेक्ष स्वायत्तता
5. रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण
6. रस सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या
7. साहित्य में नारी और प्रेम की भूमिका
8. राम कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन और उनके रोचक निष्कर्ष
9. धर्म की मानववादी परम्परा का अन्वेषण
10. ऋग्वेद : एक प्राचीन कविता
11. रांगेय राघव के विचारों की प्रासंगिकता

परिशिष्ट 1. सुलोचना रांगेय राघव से साक्षात्कार 116-125

परिशिष्ट 2. रांगेय राघव के कुछ अप्रकाशित पत्र 126-129

परिशिष्ट 3. रांगेय राघव की एक कविता के एक अंश की पाण्डुलिपि 130

संदर्भ ग्रन्थ सूची 131-141

पत्र-पत्रिकाएँ 142-143

भूमिका

रांगेय राघव की 'गदल' मैंने उन दिनों ही पढ़ ली थी, जिन दिनों मैं बारहवीं कक्षा का छात्र था। इस कहानी ने मनोमस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ी थी। लेकिन, रांगेय राघव की इस कहानी के अतिरिक्त, एक लम्बे अरसे, तक कुछ भी ऐसा पढ़ने का अवसर नहीं मिला जिससे मैं उनके प्रति किसी प्रकार की धारणा बना सकता। जे. एन. यू. में एम. ए. के दौरान ऐसा अवसर जरूर मिला जिससे मैं रांगेय राघव के आलोचक व्यक्तित्व से पहली बार परिचित हो सका। एम. ए. के दौरान मुझे कबीर पर एक अवधि-पत्र (Term Paper) लिखना था। इस सिलसिले में रांगेय राघव का लेख 'तुलसीदास : एक दृष्टिकोण' पढ़ा। इस लेख को पढ़कर मैं न केवल रांगेय राघव से बेहद प्रभावित हुआ, बल्कि सोचने लगा कि इतने प्रतिभाशाली, आधुनिक और तार्किक आलोचक की हिन्दी जगत ने नोटिस क्यों नहीं ली। इस प्रश्न का जवाब मुझे कुछ समय बाद मिला। 'पहल' के 'मार्क्सवादी आलोचना विशेष' में प्रदीप सक्सेना का एक लेख प्रकाशित होता है। इसमें प्रदीप सक्सेना ने पहली बार अत्यन्त दृढ़ता और आत्मविश्वास के साथ हिन्दी जगत के सामने कई प्रश्न रखे और रांगेय राघव के साथ किये गये उपेक्षापूर्ण व्यवहार का कारण पूछा। हिन्दी जगत ने उन सवालों का जवाब दिया हो, ऐसी जानकारी तो नहीं मिलती। हाँ, प्रदीप सक्सेना की उपेक्षा जरूर होनी शुरू हो गयी।

प्रदीप सक्सेना के इस लेख ने रांगेय राघव के प्रति मेरी रुचि और चिन्ताएँ फिर जागृत कर दी। मैंने विचार किया, क्यों न रांगेय राघव के आलोचना कर्म और उनकी आलोचना-दृष्टि की छानबीन की जाये और प्रदीप सक्सेना के आक्षेपों और प्रश्नों की जाँच-पड़ताल की जाये। एम. फिल. के लिए शोध का विषय चुनते समय यह वैचारिक और मानसिक स्थिति बन चुकी थी। अपनी रुचि और चिन्ताओं को जब मैंने प्रो. मैंनेजर पाण्डेय के सामने रखा तो उन्होंने न केवल मुझे रांगेय राघव के आलोचना-कर्म पर शोध के लिए प्रोत्साहित किया, अपितु सुझाव दिया कि "बेहतर होगा कि तुम

प्रगतिशील आलोचना के समक्ष रखकर रांगेय राघव को परखने और समझने का प्रयास करो।'' इस तरह शोध का विषय तय हुआ–'रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि।'

विषय निर्धारित हो गया तो मेरी समस्याएँ भी बढ़ गयीं। मैंने दिल्ली में स्थित विभिन्न पुस्तकालयों की छानबीन की तो पता चला कि रांगेय राघव की आलोचनात्मक पुस्तकें अनुपलब्ध हैं। उनके उपन्यास और कहानियाँ तो हर पुस्तकालय में मिलीं लेकिन आलोचनात्मक पुस्तकें खोज पाना असंभव था। अब क्या हो? मैंने तय किया कि मुझे जयपुर, आगरा और इलाहाबाद के पुराने और नये पुस्तकालयों में इन पुस्तकों की खोज करनी चाहिए। जयपुर में श्रीमती सुलोचना रांगेय राघव से मिला। उनके व्यक्तिगत पुस्तकालय में भी रांगेय राघव की सारी आलोचनात्मक पुस्तकें नहीं थीं। जो मिलीं, फोटो प्रति ले ली। जयपुर से आगरा के पुस्तकालयों की हालत अधिक ख़राब मिली। वहाँ केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के पुस्तकालय में ही एक पुस्तक मिल पायी। डॉ. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा का पुस्तकालय तो अव्यवस्था और असहयोग का केन्द्र बन गया है। रांगेय राघव ने जहां से एम. ए. किया था, वहां अर्थात् सेण्ट जॉन्स कॉलेज की लाइब्रेरी में भी गया था, लेकिन निराशा ही हाथ लगी। हां, डॉ० गोविन्द रजनीश के यहाँ कुछ समाजशास्त्र और अपराधशास्त्र की पुस्तकों के प्रथम संस्करण देखने को मिले।

आगरा से निराश होकर मैं इलाहाबाद पहुँचा। भारती भवन और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पुस्तकालय से दो उपयोगी पुस्तकें-'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' और 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' मिलीं। अब भी, 'काव्य के मूल विवेच्य' और 'हिन्दी साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पूर्वपीठिका' अनुपलब्ध थीं। मैंने राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकाता को खत लिखा। जवाब मिला कि वहां भी ये पुस्तकें अनुपलब्ध हैं। अन्ततः मैंने मन मसोसकर उपलब्ध पुस्तकों से ही शोध करने का इरादा बनाया।

रांगेय राघव के सम्पूर्ण लेखन में से कथा-साहित्य पर सर्वाधिक शोध हुए हैं। उनकी कविताओं पर भी संतोषजनक संख्या में कार्य हुए हैं। लेकिन, उनके आलोचनात्मक लेखन को लेकर हिन्दी जगत के साथ-साथ हिन्दी भाषा और साहित्य के शोधार्थी भी

उदासीन रहे हैं। 'एसोसिएशन ऑफ इण्डियन युनिवर्सिटीज़' नई दिल्ली की साप्ताहिक पत्रिका 'युनिवर्सिटी न्यूज़' में उन शोध ग्रन्थों की सूची दी गयी है जिन पर शोधार्थियों को उपाधियाँ दी जा चुकी हैं। मैंने 1950 ई० से लेकर 2003 ई० तक की 'युनिवर्सिटी न्यूज़' की छानबीन की तो मुझे रांगेय राघव के आलोचनात्मक लेखन पर जिन शोध ग्रन्थों की जानकारी मिली, वे इस प्रकार हैं–

1. प्रकाश मित्तल, 'डॉ. रांगेय राघव : आलोचक और अनुवादक', 1964-68, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

2. नारायण सोना जी वाकले, 'डॉ. रांगेय राघव के आलोचनात्मक साहित्य का अनुशीलन', 2001, हिन्दी विभाग, डॉ० बाबा साहेब मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद

इन दो शोध ग्रन्थों के अतिरिक्त जे. एन. यू. से किन्हीं सावित्री जी द्वारा 'प्रगतिशील आलोचना को रांगेय राघव की देन' विषय पर एक शोध ग्रन्थ लिखा गया है। सावित्री जी का शोध-कार्य तो देखने को मिल गया, परन्तु शेष दोनों शोधार्थियों को खत लिखने और मिलने के कई प्रयास के बावजूद मैं न तो जवाब पा सका, न मिल सका।

शोध-ग्रन्थों के शीर्षक से ऐसा लगता है कि इनमें रांगेय राघव के आलोचनात्मक लेखन को उसकी सम्पूर्णता के साथ नहीं लिया गया होगा। ऐसा अनुमान करके उपर्युक्त परिस्थितियों में मैं, यह लघु शोध प्रबन्ध लिखने में जुटा। रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि या उनके आलोचनात्मक कर्म पर 'लघु' नहीं, एक मुकम्मिल 'शोध-प्रबन्ध' लिखा जा सकता है। यह विषय काफ़ी विस्तृत और गवेषणापरक है।

इस लघु शोध प्रबन्ध में चार अध्याय और तीन परिशिष्ट हैं। पहला अध्याय है–'प्रगतिशील आलोचना और रांगेय राघव'। इस अध्याय में हिन्दी आलोचना और उस हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील आलोचना की स्थिति को रेखांकित करने के साथ-साथ, प्रगतिशील आलोचना में रांगेय राघव के प्रवेश और हस्तक्षेप को दिखलाया गया है। यह अध्याय हिन्दी आलोचना, प्रगतिशील आलोचना और रांगेय राघव के आलोचनात्मक कर्म के ऐतिहासिक विकास पर, विशेष रूप से, केन्द्रित है। वैसे तो

हिन्दी आलोचना की शुरूआत भारतेन्दु युग में होती है लेकिन यहाँ, यह दिखलाया गया है कि भारतेन्दु से भी पूर्व हिन्दी साहित्य में किस प्रकार का साहित्य-विवेक पाया जाता है।

हिन्दी आलोचना के विकास को दर्शाते हुए हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना किन परिस्थितियों में अपना उद्‌भव और विकास कर सकी हैं, इसे रेखांकित किया गया है। प्रगतिशील आलोचना में रांगेय राघव के हस्तक्षेप को उनकी कृतियों के माध्यम से, ऐतिहासिक रूप में, समझने की कोशिश की गयी है।

दूसरा अध्याय 'प्रगतिशील आलोचना के विवाद और रांगेय राघव' है। इस अध्याय में प्रगतिशील आलोचना में 1949 ई० से लेकर 1950-51 तक के घनघोर विवादों की पृष्ठभूमि और विषयों को रेखांकित करते हुए विवादों की पद्धति और विवादकों के विचारों का अध्ययन किया गया है। कोशिश यही रही है, कि प्रगतिशील आलोचना के सभी प्रमुख विवादों पर चर्चा हो सके। इस अध्याय में यह पद्धति अपनायी गयी है कि पहले विवाद में भाग ले रहे प्रमुख आलोचकों के मतों की जांच-पड़ताल की जाये बाद में उनके सामने रांगेय राघव के दृष्टिकोण को समझा जाये। प्रगतिशील आलोचना के विवाद तत्कालीन, सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से प्रेरित थे और इन परिस्थितियों को प्रेरणा भी दे रहे थे। लेकिन, विवादों की पद्धति और भाषा व्यक्तिगत कारणों से ज्यादातर समय असंतुलित और गैर-अकादमिक हो जाया करती थी। प्रगतिशील आलोचना को इससे लाभ से अधिक नुकसान हुआ है।

'रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि' यह तीसरा अध्याय है। रांगेय राघव की गैर-विवादपरक पुस्तकों में निहित आलोचना-दृष्टि का अन्वेषण इस अध्याय का प्रमुख लक्ष्य है। यह मानकर चला गया है कि पहले और दूसरे अध्याय में उनकी आलोचना-दृष्टि का वह अंश स्पष्ट हो चुका होगा जिसका सम्बन्ध साहित्य, समाज, राजनीति आदि के प्रश्न पर हुए विवादों से है। विवादों से हटकर रांगेय राघव ने कुछ पुस्तकें लिखी हैं। 'तुलसीदास का कथा-शिल्प' ऐसी ही पुस्तक है। इस तरह की पुस्तकों में रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि और भी स्पष्ट, स्थिर और अकादमिक है।

चौथा अध्याय है– 'रांगेय राघव की प्रगतिशील आलोचना को देन'। इस अध्याय में ही नहीं, सम्पूर्ण लघु शोध प्रबन्ध में रांगेय राघव के आलोचनात्मक योगदान को समझने की कोशिश की गयी है, परन्तु इस अध्याय में, विशेष रूप से, यह कार्य किया गया है। रांगेय राघव के समकालीन आलोचकों से उनकी तुलना करते हुए उनके मौलिक आलोचनात्मक कार्य को पहचाना गया है। मुक्तिबोध और डॉ० रामविलास शर्मा की अवधारणाओं की जाँच-पड़ताल करते हुए, रांगेय राघव के विचारों से तुलना की गयी है। इस अध्याय में, रांगेय राघव के कुछ मौलिक विचारों के ऐतिहासिक रूप से सबसे पहले व्यक्त होने और परवर्ती काल में बिना संदर्भ के दूसरे आलोचकों द्वारा अपनाये जाने और मौलिकता का श्रेय लेने की गैर-अकादमिक कार्य की भी चर्चा की गयी है।

रांगेय राघव ने ऐसा भी आलोचना-कार्य किया है जो आज तक सिर्फ़ उन्होंने ही किया है। इस योगदान को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है।

रांगेय राघव के मौलिक, तार्किक और प्रभावी आलोचनात्मक योगदानों की चर्चा के बाद उनके आलोचनात्मक कार्यों में निहित प्रासंगिकता की भी जाँच की गयी है। इस संदर्भ में यह निष्कर्ष निकला है कि रांगेय राघव के गैर-साम्प्रदायिक, प्रगतिशील और आधुनिक साहित्य और विचारों की प्रासंगिकता आज ही नहीं, परवर्ती समय के लिए भी बरकरार है। स्त्री और दलित आलोचना की बहुत सी धारणाएँ और स्थापनाएँ रांगेय राघव के विचारों और आलोचना-दृष्टि से मेल खाती हैं। जाहिर सी बात है कि इन आलोचना कोटियों के लिए आज भी वह आलोचना-दृष्टि और वे विचार प्रासंगिक होंगे।

इस अध्याय में प्रसंग आने पर रांगेय राघव के प्रति की गयी 'क्रूर उपेक्षा' को भी समझने की कोशिश की गयी है। इस 'उपेक्षा' में निहित आशयों को समझते हुए रांगेय राघव के महत्व को स्थान-स्थान पर रेखांकित किया गया है।

अंत में, इस लघु शोध प्रबन्ध में तीन परिशिष्ट शामिल किए गये हैं। पहले परिशिष्ट में, श्रीमती सुलोचना रांगेय राघव से लिया गया एक साक्षात्कार दिया गया

है। इस साक्षात्कार में रांगेय राघव के व्यक्तित्व, कृतित्व और उनके प्रति की गयी 'क्रूर उपेक्षा' से जुड़े कई अहम सवाल और उनके जवाब हैं। दूसरे परिशिष्ट में, श्रीमती सुलोचना रांगेय राघव से प्राप्त वे चार अप्रकाशित पत्र सम्मिलित किए गए हैं जिन्हें रांगेय राघव ने क्रमशः 1953, 1961 और 1962 ई० में अपने प्रिय मित्र बिशनचन्द्र खन्ना और अपनी प्रिय 'नीली' अर्थात् नीला चावला को लिखे हैं। इन पत्रों में रांगेय राघव का निश्च्छल, निर्मल और भावुक व्यक्तित्व अपनी पूरी गरिमा के साथ उपस्थित होता है। तीसरे परिशिष्ट में, रांगेय राघव के एक अप्रकाशित कविता संग्रह की कुछ पंक्तियाँ दी गई हैं। इससे रांगेय राघव की सुस्पष्ट और सुन्दर हस्तलिपि की जानकारी प्राप्त होती है।

इस लघु शोध प्रबन्ध का पूरा होना असंभव था यदि प्रो. मैनेजर पाण्डेय के मूल्यवान निर्देश और सुझाव न मिले होते। भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' में एक स्थान पर 'नारिकेलफलसम्मितं वचः' की चर्चा की है। यदि 'वचः' के स्थान पर प्रो० मैनेजर पाण्डेय का 'व्यक्तित्व' रख दिया जाये तो अर्थ और भी सारगर्भित हो जाता है। सचमुच, प्रो. मैनेजर पाण्डेय ऊपर से अत्यन्त सख्त हैं। अकादमिक कार्यों को लेकर किसी भी प्रकार की उदासीनता या चूक के लिए कभी न क्षमा करने वाले! लेकिन उनका हृदय! हृदय, अत्यन्त कोमल। उचित सलाह और परामर्श के लिए हमेशा तत्पर रहने वाले प्रो० मैनेजर पाण्डेय को धन्यवाद देकर मैं उनकी गुरुता को कम नहीं करना चाहता।

'भारतीय भाषा केन्द्र', जे. एन. यू. के सभी गुरुओं के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अपनी-अपनी तरह से मुझ जैसे 'अनपढ़' को इस लायक बनाया कि आज मैं कुछ सोच ही नहीं, लिख भी सकता हूँ।

साहित्यकार राजेन्द्र यादव, डॉ० विश्वम्भरनाथ उपध्याय, डॉ० प्रदीप सक्सेना, डॉ. गोविन्द रजनीश, अशोक शास्त्री और जितेन्द्र रघुवंशी सहित दिल्ली, आगरा, जयपुर और इलाहाबाद के उन सभी विद्वानों के प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने मुझे समय-समय पर मूल्यवान सुझाव और वैचारिक सहयोग दिये।

स्वर्गीय राजेन्द्र रघुवंशी अब नहीं रहे। अस्वस्थता के उन दिनों में भी वे कितने निश्च्छल और प्रसन्न नज़र आ रहे थे। उनका चेहरा आज भी मेरी आँखों के सामने है।

श्रीमती सुलोचना रांगेय राघव ने न केवल रांगेय राघव की अधिकांश आलोचनात्मक पुस्तकें मुझे उपलब्ध करायीं, उनकी थीसिस और कविता संग्रहों की मूल पाण्डुलिपियाँ दिखलायीं, बल्कि अपने मातृवत् स्नेह से प्रोत्साहित किया। सीमन्तिनी रांगेय राघव से मिलकर लगा कि जब रांगेय राघव की पुत्री इतनी संस्कारवान और विनम्र हैं, तो स्वयं रांगेय राघव कैसे न रहे होंगे! वाग्मी रांगेय राघव की मासूम उपस्थिति पुस्तकों के खोजबीन जैसे नीरस और बोझिल कार्य को हल्का बना देती थी। ये सभी घर के सदस्य से हो गये हैं। अब घर के लोगों को भी कोई धन्यवाद देता है!

माँ श्रीमती सुभद्रा देवी, पिता श्री देशराज यादव, बहनों-नीलम, पूनम और सोनम–और परिवार के दूसरे सदस्यों के बिना मेरा होना ही, असम्भव है। इनका अस्तित्व ही मेरी पहचान है। धन्यवाद से ये निश्चित ही बुरा मान जायेंगे।

राघवेन्द्र, जिसने मेरे लिए-भाई, दोस्त और अभिभावक-सबकी भूमिका निभाई। उसे और उसके परिवार को धन्यवाद देने का अर्थ यह माना जायेगा कि मैं उनसे औपचारिक हो रहा हूँ। इसे वे बर्दाश्त नहीं करेंगे!

बचपन के मित्र शिवप्रकाश अचानक ऐसे पकड़ में आ गये कि दो दिन तक उनसे इस लघुशोध प्रबन्ध की अन्तिम कापी तैयार करवाता रहा। बेचारे रुआँसे हो गये थे। यही हाल, योगेश, निशान्त और विश्वनाथ का भी हुआ था। ये और जे. एन. यू. के ऐसे ही सैकड़ों मित्र न होते तो कैसे पता चलता कि इंसानियत और दोस्ती क्या होती है। आभारी हूँ इन सबका। जयपुर के सत्यबीर और उनके मित्रों को भूलना भी मुश्किल है। उनको धन्यवाद देते समय संकोच हो रहा है। ये सब बहुत करीब हो गये हैं!

देश-विदेश के उन अनगिनत कामरेडों को धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होंने अपने संघर्षपूर्ण आन्दोलनों से मुझे ऊर्जावान और अर्थवान बनाये रखा है, जिन्होंने इस

अमानवीय वातावरण में भी मानवीयता की जोत जलाये रखा है। लाल सलाम कामरेडो !!!

अन्त में, साहित्य अकादमी, पुस्तकालय, दिल्ली; मारवाड़ी पुस्तकालय, दिल्ली; जे एन. यू., पुस्तकालय, दिल्ली; दिल्ली विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, दक्षिणी एवं उत्तरी परिसर, दिल्ली; भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, पुस्तकालय, दिल्ली; भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) पुस्तकालय, दिल्ली; नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, तीनमूर्ति भवन, दिल्ली; एसोसिएसशन ऑफ इण्डियन यूनिवसीर्टीज, पुस्तकालय, दिल्ली; राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय, जयपुर; महाराजा राज्य केन्द्रीय पुस्तकालय जयपुर; राधाकृष्ण 'राज्य केन्द्रीय, पुस्तकालय जयपुर; केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, पुस्तकालय, आगरा; सेण्ट जॉन्स कॉलेज, पुस्तकालय आगरा; भारती भवन, पुस्तकालय, इलाहाबाद; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पुस्तकालय, इलाहाबाद और राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकात्ता के अध्यक्षों, संचालकों और कर्मचारियों के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने रांगेय राघव की आलोचनात्मक पुस्तकों की तलाश में मेरी सहायता की।

धर्मनारायण यादव

पहला अध्याय

प्रगतिशील आलोचना और रांगेय राघव

1. प्रगतिशील आलोचना से पूर्व हिन्दी आलोचना
2. प्रगतिशील आलोचना
3. रांगेय राघव का हिन्दी आलोचना में प्रवेश

1. प्रगतिशील आलोचना से पूर्व हिन्दी आलोचना

हिन्दी आलोचना के इतिहास पर यदि एक सरसरी निगाह डाली जाये तो पता चलता है कि जिसे 'आलोचना' कहा जाता है, उसकी शुरुआत 'भारतेन्दु युग' से ही होती है। 'भारतेन्दु-युग' के पूर्व साहित्य में रीतिवादी, अध्यात्मवादी, सामन्ती और प्रतिक्रियावादी मूल्यों और विचारों का प्राबल्य देखने को मिलता है। ऐसा सामान्य-सा निष्कर्ष निकालते समय 'भक्ति-युगीन' जनोन्मुखी, सामन्तविरोधी और जन-आन्दोलनकारी साहित्य धारा अैर काव्य-मूल्यों को विस्मृत नहीं किया जा रहा है। लेकिन इस 'भक्ति-युगीन' साहित्यधारा का विकास जैसा होना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ। 'रीतिकाल' में वह धारा बिल्कुल विलुप्त तो नहीं हुई, परन्तु इतना निश्चित है कि उसकी तीक्ष्णता, जनोन्मुखता और प्रबलता शान्त हो गयी। उसमें वह वेग नहीं रह गया था कि कबीर, सूर और तुलसी की कविताओं की भांति मानव-मन को न केवल उद्वेलित कर सके अपितु उदात्त मानव-मूल्यों की स्थापना भी कर सके। रीतिकाल में कविता सामन्तों की प्रशस्ति और संकुचित पतनशील रुचियों को तृप्त करने का साधन बन गयी। उद्देश्य जब इतना गिर गया हो, तो उसमें चमत्कार-प्रियता और आडम्बर बढ़ना स्वाभाविक ही है।

'भक्ति-युगीन' जनोन्मुखी काव्य-धारा और आन्दोलन की ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण परिणति क्यों हुई? अगर इस सवाल से बहुत अधिक न भी उलझा जाये, क्योंकि इस पर मुक्तिबोध, रांगेय राघव, डॉ. रामविलाश शर्मा, डॉ. नामवर सिंह और डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने काफी विस्तार से विचार-विमर्श किया है, तो भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि रीतिकाल में न तो वे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ रह गयी थीं और न ही वह साहित्य की जन-ग्राह्यता ही जो भक्तिकालीन जनोन्मुखी काव्य-धारा को अबाधगति से प्रवाहित होने देती।

भक्तिकालीन और रीतिकालीन साहित्य धारा और काव्य-मूल्यों की चर्चा यहाँ इसलिए इतने विस्तार से की जा रही है क्योंकि डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में,

"काव्यानुशासन.....वस्तुत: अनुशासन है, शासन नहीं।"[1] अर्थात् जिस युग में साहित्य की जो प्रमुख धारा होगी उसी के अनुरूप उसका 'अनुशासन' रूप ग्रहण करेगा। 'अनुशासन' 'आलोचना' से भिन्न नहीं है।

भक्तिकाल में 'आलोचना' अपने उस रूप में उपस्थित तो नहीं दिखायी देती जिस रूप में 'भारतेन्दु-युग' या उसके पश्चात, लेकिन 'टीका' और 'वार्ताओं' में जो छोटी-छोटी टिप्पणियाँ दिखायी देती हैं, उनसे उस युग के काव्य-विवेक का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। 'भक्तमाल' भक्तिकालीन साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अनेक ज्ञात-अज्ञात भक्तों और कवियों का संक्षिप्त जीवन चरित उपलब्ध होता है। 'भक्तमाल' का अध्ययन करने से यह भी स्पष्ट होता है कि 'भक्तमाल' के रचयिता की साहित्य-दृष्टि अत्यन्त प्रखर थी। उदाहरण के लिए कबीर के बारे में उनकी 'समझ' देखी जा सकती है–

"भक्ति विमुख जो धर्म सुसब अधर्म करि गाये।
योग यज्ञ ब्रत दान भजन बिन तुच्छ दिखाये।।
हिन्दू तुरक प्रमाण रमैनी सबदी साखी।
पक्षपात नहीं बचन सबके हित की भाखी।।
आरूढ़ दशा है जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदर्शनी।।"[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि भक्तिकालीन साहित्य की जो जनोन्मुखी साहित्य धारा थी, वह इतनी प्रबल थी कि 'भक्तमाल' के रचयिता से यह कहलवाये बिना न रह सकी कि 'कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट्दर्शनी'। यह 'आलोचना' है या नहीं, अगर इस प्रश्न को छोड़ भी दें, फिर भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह संस्कृत काव्य-शास्त्र की उस परम्परा से कई कदम आगे की बात है जो विशेष वर्ग और वर्ण की दृष्टि से साहित्य के मान-मूल्यों का निर्धारण करती है। 'सहृदय' और 'नायक' की धारणा में ही नहीं, 'ग्राम्यत्व दोष' के प्रसंग में भी इसे भली-भाँति पहचाना और समझा जा सकता है। कबीर और उन जैसे कवियों की इस

प्रकार से अकुण्ठ और उन्मुक्त प्रशंसा संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा से बाहर की वस्तु है।

हिन्दी आलोचना के मूल्य और प्रतिमान भक्तिकालीन मूल्यों से अपने को समृद्ध करते चलते हैं। लेकिन, जैसा कि कहा गया है कि यह 'आलोचना' नहीं है। यह आधुनिक अर्थों में 'टिप्पणी' मानी जा सकती है, जो किसी भी साहित्य और साहित्यकार का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सकता। इसमें अभी वह चिन्ता नहीं परिलक्षित होती है कि साहित्य का समाज और संस्कृति से कितना जटिल और अनिवार्य सम्बन्ध है।

रीतिकाल का साहित्य उन मूल्यों की अभिव्यक्ति है जो भक्तिकालीन साहित्य-मूल्यों के विपरीत और विरोधी हैं। साहित्य का उद्देश्य इस काल में गिर गया था। सामन्तों की प्रशस्ति और नायक-नायिका भेद का वर्णन ही कविकर्म माना जाने लगा। चमत्कारप्रियता भी बढ़ गयी थी। ऐसे 'रचनात्मक' वातावरण में काव्य-सिद्धान्त और मूल्य कैसे होंगे, इसे आसानी से समझा जा सकता है। इस काल में 'आलोचना' के नाम पर संस्कृत काव्यशास्त्र के रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, छन्द आदि का अमौलिक संकलन दिखायी देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है, "हिन्दी के अलंकार ग्रन्थ अधिकतर 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानंद' के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रन्थों में 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' का भी आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रन्थों का मत ग्रहण किया। इस प्रकार देव योग से संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास की संक्षिप्त उद्धरणी हिन्दी में हो गयी।"[3]

इस रीतिकालीन 'संक्षिप्त उद्धरणी' का प्रभाव परवर्ती हिन्दी 'आलोचना' में एक लम्बे अरसे तक बना रहा।

'भक्तिकाल' और 'रीतिकाल' दोनों ही युगों के काव्य-मूल्य और प्रतिमान परवर्ती काल में अपनी-अपनी तरह से विकसित होते रहे। यह बात अलग है कि अन्ततः विजय भक्तिकालीन जनोन्मुखी काव्य-मूल्यों की ही हुई।

हिन्दी 'आलोचना' के इस विहंगावलोकन में इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है कि अभी तक वैसे गद्य का विकास नहीं हो पाया था, जो 'आलोचना' को एक नयी शक्ति प्रदान करता।

'भारतेन्दु युग' में परिस्थिति बदल जाती है। यह अंग्रेजों की अधीनता का ही काल नहीं हैं, बल्कि 'पुनर्जागरण' का भी काल बनता है। अब साहित्य दरबारों में सिमटकर बहुत दिनों तक नहीं रह सकता था। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू होता है। समाज-सुधारों का एक लम्बा अध्याय प्रारम्भ होता है। जनता में जागृति आती है। इस प्रकार भक्तिकालीन जनोन्मुखी धारा एक बार पुनः अपना प्रसार करती दिखती है। अब साहित्य जनता की वेदनाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त करने का माध्यम बनता है। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र ही नहीं, 'भारतेन्दु युग' के सभी रचनाकारों की रचनाओं में यह समाजोन्मुखता देखी जा सकती है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या एक झटके के साथ ही रीतिकालीन काव्य-परम्परा से भारतेन्दु युगीन साहित्य ने अपने को तोड़ लिया और जनोन्मुखी हो गया? नहीं, ऐसा निष्कर्ष निकालना इतिहास को अनदेखा करना होगा। सच तो यह है कि 'भारतेन्दु युग' के साहित्यकारों को ही नहीं, परवर्ती काल के साहित्यकारों को भी एक लम्बा संघर्ष करना पड़ा था तभी वे रीतिवादी मूल्यों और विचारों से साहित्य को मुक्त करा सके। रीतिवादी मूल्यों से संघर्ष और जनोन्मुखी मूल्यों की स्थापना के लिए हिन्दी आलोचना ने कैसे-कैसे संघर्ष किये, इसे संक्षेप में देखा जा सकता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "भारतेन्दु का पूर्ववर्ती काव्य साहित्य संतों की कुटिया से निकलकर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुँच गया था, उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकाल कर लोक-जीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया।"[4] 'काव्य को दरबारीपन' से निकालकर 'लोक जीवन के आमने-सामने खड़ा' करने की प्रक्रिया को भारतेन्दु के नाटकों, निबन्धों और उस युग के सभी महत्वपूर्ण रचनाकारों की रचनाओं में देखा जा सकता है। 'काव्य' का रूप यदि

दरबारों से मुक्त हो रहा था तो 'काव्यानुशासन' दरबारी मूल्यों से कब तक बँधा रह सकता था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने समय की सर्वाधिक समाजोन्मुखी विधा 'नाटक' को केन्द्र में रखकर एक लम्बा निबन्ध लिखा। निबन्ध का शीर्षक भी 'नाटक' ही था। वे इस निबन्ध में लिखते हैं, "अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं आशी कहीं सम्फेट पंच संधि व ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं बाकी रही। संस्कृत नाटक की भांति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, व किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है.....।"[5]

भारतेन्दु ने यहाँ दो प्रमुख निष्कर्ष निकाले हैं। एक, "अब" नाटक का विषय "अलौकिक" की बजाय लौकिक होना चाहिए। दूसरे, "अब" नाटक में संस्कृत नाट्यशास्त्र की बहुत सी नाट्यविधायिनी युक्तियाँ "व्यर्थ" हैं। उद्धरण में आये "अब", "लौकिक" और "व्यर्थ" पर ध्यान देना काफ़ी रोचक होगा। "अब" समय और परिस्थितियों के उस विकास और परिवर्तन को दिखाता है जो संस्कृत नाट्यशास्त्र की बहुत सी धारणाओं को ख़ारिज कर देता है, साथ ही, वह एक नयी सौंदर्य-दृष्टि और एक नये 'भावक' या 'सहृदय' की ओर भी संकेत करता है जो संस्कृत नाट्यशास्त्र के 'सहृदय' से भिन्न है। इसी प्रकार विषयवस्तु के स्तर पर "अलौकिक" से "लौकिक" की यात्रा उन अध्यात्मवादी-भाववादी घेरों से अपने को मुक्त करने की यात्रा है जो साहित्य को अमूर्त, संकुचित और जन-विमुख बना देता है। "व्यर्थ" शब्द तो अपने आप में अत्यन्त साहसिक ध्वनि रखता है। यह हिन्दी आलोचना के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित करने वाला शब्द है, जो पूरे साहस के साथ जनता को ध्यान में रखकर पूरी नाट्यशास्त्र की परम्परा को ललकारता है।

नाटक का विषय "अलौकिक" से "लौकिक" होगा तो उसका उद्देश्य भी बदल जायेगा। भारतेन्दु के अनुसार, "इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं–यथा 1. शृंगार 2. हास्य 3. कौतुक 4. समाज संस्कार 5. देशवत्सलता।"[6]

यहाँ 'समाज संस्कार' और 'देशवत्सलता' पर ध्यान गये बिना नहीं रहता। क्या है यह 'समाज संस्कार'? "समाज संस्कार के नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्त्तव्यकर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति विवाह सम्बन्धी कुरीति निवारण अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि।"[7] नाटक या काव्य का इससे पूर्व इतना 'समाजोन्मुखी' होना, इतनी स्पष्टता के साथ दुर्लभ है। इन वाक्यों में प्रगतिशील आलोचना की उन मान्यताओं की झलक देखी जा सकती है, जिनमें साहित्य को अधिकाधिक जनोन्मुखी बनाने की चिन्ता और आकुलता निहित है।

भारतेन्दु का युग 'पुनर्जागरण' का युग है। वे देश की हलचलों से अप्रभावित कैसे रह सकते हैं। साहित्यकार होने के नाते वे ही नहीं, उनके युग का साहित्य भी अप्रभावित नहीं रह सकता। वे लिखते हैं, 'देश वत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों व देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करता है।"[8] प्रेमचंद ने बाद में 'साहित्य का उद्देश्य' में इसी परम्परा को और भी अधिक मुखरित स्वर में अभिव्यक्ति दी है।

'भारतेन्दु युग' के एक और महत्वपूर्ण साहित्यकार हैं–बालकृष्ण भट्ट। उनके निबन्धों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि उस युग में 'आलोचना' के मूल्यों को लेकर जितनी चिन्ता उनके यहाँ है, दूसरी जगह दुर्लभ है। बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में लगातार यही कोशिश मिलती है कि किस प्रकार साहित्य रीतिवादी मूल्यों से मुक्त और जनोन्मुखी मूल्यों से पुष्ट हो। इसके लिए वे परम्परा की ओर भी दृष्टिपात करते हैं। उन्हें वैदिक ऋषियों के काव्य में मिलने वाले बालकों के समान भाव, "भोलापन, उदारभाव, निष्कपट व्यवहार" अधिक आकर्षित करते हैं। वे याज्ञवल्क्य और मनु के 'वर्ण-विवेक' के झगड़ों को बहुत अनुराग की दृष्टि से नहीं देखते। वे पूरी भारतीय परम्परा के उन उदात्त मूल्यों को अपने साहित्य-विवेक में संजोते हैं जो मानवीय गरिमा और मानवीय मूल्यों की स्थापना में सहायक होते हैं। इसी साहित्य-विवेक की अभिव्यक्ति होती है इस वाक्य में, जो 1881 ई० में 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा गया था, "साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है।"[9] प्रो. मैनेजर

पाण्डेय के अनुसार हिन्दी आलोचना और काव्य-सिद्धान्तों के इतिहास में यह 'नयी दृष्टि' है।[10] अगर हिन्दी की प्रगतिशील और जनवादी आलोचना परम्परा को ध्यान से देखें तो बालकृष्ण भट्ट की इस स्थापना का युगान्तकारी मूल्य समझ में आता है। साहित्य अभी तक 'सहृदय' के लिए था। 'सहृदय' कैसा होता था, इसकी जानकारी अभिनव गुप्त के 'भारती' में मिल जाती है। उनके अनुसार 'सहृदय' का 'स्वभाव' न केवल 'निर्मल' होना चाहिए बल्कि उसे "संसारोचित क्रोधमोहाभिलाषपरवशी"[11] भी नहीं होना चाहिए। स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त का 'सहृदय' कोई साधारण संसारी आदमी तो हो नहीं सकता। संसारी व्यक्ति 'संसारोचित क्रोधमोहाभिलाषपरवशी' होगा ही, उससे मुक्ति और 'निर्मलत्व' की प्राप्ति उसके लिए संभव नहीं है और ऐसी स्थिति में काव्य का आस्वादन भी उसके लिए नामुमकिन है। 'सहृदय' को ऐसे बन्धन से निकालकर बालकृष्ण भट्ट न केवल साहित्य को जन-जन की वस्तु बनाते है अपितु उनके अनुसार साहित्य तभी साहित्य बनता है जब उसमें 'जनसमूह' के 'हृदय का विस्तार' हो।

बालकृष्ण भट्ट की सैद्धान्तिक स्थापना के समान ही उनकी 'व्यावहारिक आलोचना' भी जनोन्मुखी है। भारतेन्दु युग में 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की आलोचना का जो प्रयास बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन में दिखायी देता है, उसमें हिन्दी आलोचना के समाजोन्मुखी विकास की संभावनाएँ निहित हैं। भारतेन्दु युग की इस 'व्यावहारिक आलोचना' ने जनतांत्रिक वाद-विवाद-संवाद की भी शुरूआत की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी बालकृष्ण भट्ट और 'प्रेमघन' को काफी महत्व दिया है। वे लिखते हैं, "समालोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से भट्ट जी और चौधरी साहब ने ही किया।"[12] 'एक प्रकार से' इसलिए क्योंकि भारतेन्दु इनसे पूर्व 'नाटक' (1883) लिख चुके थे।

भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट और चौधरी 'प्रेमघन' ने जिस सैद्धान्तिक और व्यावहारिक 'समालोचना' का 'सूत्रपात' किया था, उसका और भी निखरा और विकसित रूप परवर्ती काल में मिलना चाहिए था लेकिन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की रीतिविरोधी

और जनवादी आलोचना-दृष्टि के बावजूद 'देव और बिहारी' में उलझ गयी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को इसीलिए लिखना पड़ा था कि "समालोचना का उद्देश्य हमारे यहाँ गुण-दोष विवेचन ही समझा जाता रहा है।"[13] पद्मसिंह शर्मा और कृष्ण बिहारी 'देव बड़े कि बिहारी' के 'भद्दे झगड़े' में उलझ गये। इससे जिस गम्भीर आलोचना-दृष्टि के विकास की सम्भावना थी, वह पूरी न हो सकी। लेकिन इस प्रसंग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की यह स्थापना उल्लेखनीय है कि "ज्ञानराशि के संचित कोश ही का नाम साहित्य है।"[14] यह हिन्दी आलोचना का अगला कदम है। 'भाव' से 'ज्ञान' की यात्रा। भट्ट जी के लिए साहित्य में 'हृदय' प्रमुख था तो द्विवेदी जी के लिए 'ज्ञान' अर्थात् मस्तिष्क।

द्विवेदी युग तक हिन्दी आलोचना की "यद्यपि बहुत कुछ उन्नति हुई पर उसका स्वरूप प्राय: रूढ़िगत (कन्वेशनल) ही रहा।"[15] रूढ़िगत ही क्यों रहा? क्योंकि 'अन्त:प्रकृति की छानबीन' और 'कवियों की विशेषताओं' की जो सूक्ष्म विवेचना होनी चाहिए थी, वह द्विवेदी युग में नहीं मिलती।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'आलोचना' उन्हीं दिनों अपना विकास कर रही थी, जिन दिनों प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा अपनी अभिव्यक्ति की खोज कर रहे थे। यह युग स्वाधीनता आन्दोलन का सर्वाधिक विक्षुब्ध युग था। इस युग की परिस्थितियों की छाप न केवल 'छायावादी' काव्य में विद्यमान है, बल्कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना पर भी उसकी प्रेरणा और प्रभाव दिखायी देता है। साहित्य की धारणा अब अत्यधिक स्पष्ट और सुसंगत रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के यहाँ इस प्रकार व्यक्त होती है, "साहित्य...जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है।"[16] आचार्य शुक्ल के यहाँ साहित्य अब अविच्छिन्न रूप से समाज से जुड़ जाता है। लेकिन उसमें 'साहित्यिकता' की भी चिन्ता बराबर दिखायी देती है। जनता की चित्तवृत्ति का 'संचित प्रतिबिम्ब' 'साहित्य समाज का दर्पण होता है' की विधेयवादी और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'ज्ञान राशि का संचित कोश' की धारणा से अधिक सुसंगत और विकसित स्थापना है। यहाँ साहित्य को सीधे 'समाज का दर्पण' न

मानकर उसमें रचनाकार की भूमिका को स्वीकार किया गया है। "इस धारणा में समाज और साहित्य के बीच जनता की चितवृत्ति है। यह 'चितवृत्ति' साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है, सीधे समाज नहीं। प्रतिबिम्ब भी 'संचित' है–छना हुआ, चुना हुआ और सोचा हुआ है।"[17]

हिन्दी आलोचना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक इतनी यात्रा कर चुकी थी कि वह न केवल रीतिवादी तत्वों से अपने को मुक्त कर सकी अपितु समाज से पूरी तरह से जुड़ भी सकी। परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'लोकधर्म' और 'लोकमंगल' की अवधारणा में अब भी 'लोक' का 'जनता' से पूर्णरूपेण अकुण्ठ नैकट्य नहीं मिलता। जनता के स्थान पर 'शिक्षित जनता' और 'लोक मंगल' के नाम पर 'मर्यादा' और 'परम्परा'[18] की रक्षा का भाव उनमें विद्यमान है। 'तुलसीदास' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कबीर के सम्बन्ध में उनके विचार और निष्कर्ष इसके प्रमाण हैं। कबीर की कविता में उन्हें न केवल 'हृदय पक्ष शून्य' मिला बल्कि उस कविता में 'लोक धर्म की अवहेलना'[19] 'रहस्यवाद'[20] और 'लोकधर्म विरोधी'[21] स्वरूप भी मिला। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'लोक हृदय', 'लोक संग्रह' और 'लोक पक्ष' की धारणा में 'लोक' शब्द एक विशेष विचारधारा और धारणा को व्यक्त करता है। 'सूरदास' की व्यावहारिक आलोचना में जहाँ उन्होंने पहली बार सूरदास की सुसंगत और अद्वितीय आलोचना की है, वहीं वे यह निष्कर्ष भी निकालते हैं कि "वे अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे, तुलसीदास जी के समान लोक संग्रह का भाव इनमें न था।"[22]

इसमें कोई संदेह नहीं है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी आलोचना को पहली बार सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा जो पहला ऐसा 'इतिहास' कहा जा सकता है, जो अपनी न्यूनताओं के साथ भी, बहुत हद तक सुसंगत है। लेकिन, उनके इतिहास बोध में जहाँ एक ओर 'हिन्दू-मुसलमान' की छाप विद्यमान है वहीं आलोचना में उन पर 'तुलसीदास जी के समान' का आग्रह सर्वत्र दिखायी देता है। इसीलिए जो 'तुलसीदास जी के समान' वाले खाने में 'फिट'

नहीं हो पाते वे कवि और रचनाकार शुक्ल जी की दृष्टि में 'लोक संग्रही' नहीं रह जाते। आचार्य शुक्ल की आलोचना-दृष्टि की इस सीमा की ओर इतना ध्यान इसलिए दिया जा रहा है क्योंकि प्रगतिशील आलोचना में जो घनघोर विवाद हुए हैं उनमें से विवाद का एक विषय शुक्ल जी की आलोचना और इतिहास-दृष्टि भी था।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना का अगला महत्वपूर्ण चरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना में दिखायी देता है। 1940 ई. में वे 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखते हैं, "मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिंताओं के मानदण्ड से लोक चिंता को नहीं मापना चाहता बल्कि लोक चिंता की अपेक्षा में उन्हें देखने की सिफारिश कर रहा हूँ।"[23] इस उद्धरण से स्पष्ट जान पड़ता है कि हिन्दी आलोचना अब उस अवस्था में पहुँच चुकी थी जहाँ 'शिक्षित जनता' और 'शास्त्र की मर्यादा' से पृथक 'लोकचिंता' प्रमुख हो उठती है। हिन्दी आलोचना में विकसित हो रहे इन मूल्यों के पीछे तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों की भी प्रेरणा दिखायी देती है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' जब लिखी गयी थी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जो इतिहास-बोध उसमें परिलक्षित होता है, उसके निर्माण में 'गोदान', 'तितली', 'कंकाल' और 1936 ई० के बाद की यथार्थवादी कविताओं की भूमिका को भी नज़रअन्दाज नहीं किया जा सकता है। 1936 ई० के आस-पास राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों में इतना परिवर्तन हो रहा था कि साहित्य उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। यथार्थवाद और लोकोन्मुखता की इस प्रबल धारा ने साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया। रचनात्मक लेखन और आलोचनात्मक-विवेक दोनों को ही इस दृष्टिकोण से परखा जा सकता है। हिन्दी आलोचना में अब 'कबीर' प्रमुख हो उठते हैं। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्व पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी। उन्होंने कबीर को हिन्दी साहित्य में उनका उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि कबीर के माध्यम से "जाति-धर्म-निरपेक्ष भाव की प्रतिष्ठा का श्रेय द्विवेदी जी को है.... एक प्रकार से यह दूसरी परम्परा है।"[24] यह दूसरी परम्परा इसलिए है

क्योंकि यहाँ हिन्दी साहित्य के इतिहास को 'प्रतिक्रिया' के रूप में न देखकर 'स्वाभाविक विकास' के रूप में देखा गया है। साथ ही, यहाँ आलोचना-दृष्टि 'तुलसीदास जी के समान' से आक्रान्त नहीं है। अब आलोचना में कबीर-दृष्टि की प्रमुखता होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना जिन लोकवादी मूल्यों के आधार पर अपने मानदण्ड विकसित करने का प्रयास करती है, उनके लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि पृष्ठभूमि तैयार करती है।

2. प्रगतिशील आलोचना

हिन्दी आलोचना का विकास 1936 ई. से पहले तक ऐसा हो चुका था कि वह अधिकाधिक समाजोन्मुखी हो सके। उसके सिद्धान्तों में भक्ति आन्दोलन के मानवीय मूल्यों, रससिद्धान्त की परिवर्तित अवधारणाओं और पुनर्जागरण और स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान विकसित मूल्यों का प्रभाव देखा जा सकता है। लेकिन, 1917 ई० की रुसी क्रान्ति के बाद दुनिया भर में जो एक 'स्वतंत्रता, समानता और संघर्ष' की लहर दौड़ी उसका असर साहित्य पर पूर्ववर्ती किसी भी असर से अलग और व्यापक था। हिन्दी साहित्य अब मार्क्सवादी दर्शन और राजनीति से अप्रभावित नहीं रह सकता था। ऐसे ही वातावरण में सन् 1936 ई० में लखनऊ में प्रेमचंद की अध्यक्षता में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। सम्मेलन का उद्देश्य सम्मेलन के घोषणा पत्र में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है, "भारतीय समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारों और विश्वासों की जड़े हिलती जा रही हैं और एक नये समाज का जन्म हो रहा है।"[25] ऐसे महत्वपूर्ण अवसर पर भारतीय लेखकों का धर्म है कि वे "साहित्य और दूसरी कलाओं को अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकाल कर उन्हें जनता के निकटतम संपर्क में"[26] लायें। इसके साथ ही, इस सम्मेलन में उस युग की राजनीतिक-सामाजिक हलचलों को भी महसूस किया गया था। इसी घोषणा-पत्र में रेखांकित किया गया है कि "मानवता इस युग में संघर्षशील है।"[27] मानवता हर युग में संघर्षशील रही है लेकिन उसके संघर्ष की पहचान इतनी गम्भीरता के साथ पहली

बार हो रहा था। सम्मेलन में विभिन्न महत्वपूर्ण कवियों और लेखकों के बीच प्रेमचंद ने अपना अध्यक्षीय भाषण दिया। उस भाषण में पहली बार बड़ी तीव्रता के साथ प्रेमचन्द ने आग्रह किया था कि "हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी।"[28] यहाँ यह देखा जा सकता है कि न केवल हिन्दी आलोचना में बल्कि अखिल भारतीय स्तर पर प्रत्येक भाषा के साहित्य में यह भाव प्रबल हो रहा था कि अब 'अमीरी' और 'विलासिता के ढंग' के सौंदर्य मूल्य त्याज्य है। साहित्य की कसौटी बदली जानी चाहिए। इन विचारों, धारणाओं और भावनाओं को मूर्तरूप देने के लिए उसी सम्मेलन में एक संगठन बनाया गया। इसे ही 'प्रगतिशील लेखक संघ' कहा गया। यह 'संघ' इस अर्थ में अपना विशेष महत्व रखता है कि भक्ति आन्दोलन के बाद भारतीय भौगोलिक सीमा में पहला व्यापक और अखिल भारतीय 'संघ' और आन्दोलन था। और यह भी उपेक्षणीय नहीं है कि हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना 'प्रगतिशील लेखक संघ' के आन्दोलनों, गतिविधियों और उतार-चढ़ावों से बड़ी मजबूती के साथ जुड़ी है। हिन्दी आलोचना में 1936 ई० से लेकर 1954 ई० तक जो वैचारिक, साहित्यिक और राजनीतिक-सामाजिक विवाद हुए हैं, उनमें 'प्रगतिशील लेखक संघ' की कार्यविधि और 'संघ' के पदाधिकारियों का भी काफ़ी योगदान रहा है। इसकी विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी।

'प्रगतिशील लेखक संघ' ने जहाँ साहित्य को अत्यन्त व्यापक, जनोन्मुखी और सामाजिक बनाने में सहायता पहुँचायी, वहीं प्रारम्भ से ही उसमें अति-उत्साह, दुराग्रह और अविवेक भी देखने को मिलता है। परवर्ती काल में 'संघ' के विघटन में इन तत्वों ने भी बहुत अधिक मदद पहुँचायी। 1936 ई० के उसी घोषणा पत्र में यह वाक्य भी है, "भारतीय साहित्य की विशेषता यह रही है कि वह जीवन की यथार्थताओं से भागता है और वह वास्तविकता से मुँह मोड़कर भक्ति और उपासना की शरण में जा छिपा है। नतीजा यह है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है।"[29] परम्परा के मूल्यांकन की यही दृष्टि 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' नामक लेख में भी देखने को मिलती है। हालांकि बाद में, शिवदानसिंह चौहान ने उस निबन्ध के विचारों में 'अतिवाद' पाया था और उसे 'संतुलित' करने की बात भी कही है।"[30]

इस प्रकार प्रगतिशील आलोचना के विकास और 'प्रगतिशील लेखक संघ' के साथ उसके सम्बन्धों को ध्यान में रखा जाये तो कहा जा सकता है कि परवर्ती काल में जो वैचारिक, साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक विवाद हुए और जिनके कारण कुछ अत्यन्त नकारात्मक परिणाम भी निकले, के बीज प्रगतिशील आन्दोलन, आलोचना और 'संघ' में प्रारम्भ से ही विद्यमान थे। प्रगतिशील आन्दोलन, आलोचना और 'संघ' में कुछ विषय ऐसे थे जिनके बारे में कोई स्पष्ट धारणा या तो थी नहीं, या फिर दुराग्रह-वश, विवेकपूर्ण ढंग से सत्य को पहचाना नहीं जा रहा था। साहित्य और राजनीति का आपसी रिश्ता, साहित्य और जनता के बीच सम्बन्ध और लेखक और पार्टी का परस्पर सम्बन्ध कैसा हो, कितना हो और कहाँ तक हो, इसका कोई विवेकपूर्ण निर्धारण नहीं दिखायी देता उस समय के भारत की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का विश्लेषण और उसके अनुरूप कोई निर्णय लेने में जो अति-उत्साह, भ्रान्ति और भोलापन देखने को मिलता है, उसका असर साहित्य पर भी दिखता है। ऐसे ही प्रभाव के चलते उस समय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले 'क्रान्तिकारी' कवियों और कविताओं को 'महान' और 'युगान्तकारी' घोषित कर दिया गया था, भले ही वे साहित्य के इतिहास में एक दशक तक भी अपने को जीवित न रख सकी हों। ऐसी अन्तर्विरोधपूर्ण स्थिति में उन साहित्यकारों के प्रति अन्याय हो जाना असंभव न था जो 'मार्क्सवादी', 'कम्युनिस्ट' या 'प्रगतिशील' तो थे परन्तु जिन्होंने तात्कालिकता के वेग में अपने विवेक को नहीं खोया और समाज और साहित्य का उचित विश्लेषण किया था। हिन्दी साहित्य में रांगेय राघव ऐसे ही आलोचक थे।

3. रांगेय राघव का हिन्दी आलोचना में प्रवेश

रांगेय राघव का आलोचना-कर्म ठीक उसी प्रकार से उनके सम्पूर्ण रचनात्मक कर्म का अविभाज्य हिस्सा है जिस प्रकार से मुक्तिबोध का। मुक्तिबोध जब अपनी रचना-प्रक्रिया की गुत्थियों को रचनात्मक तरीके से सुलझा पाने में अक्षम हो जाते थे तो वे निबन्ध या आलोचनात्मक लेखन की ओर मुड़ते थे। उनका सारा

साहित्य–रचनात्मक और आलोचनात्मक–सवाल-जवाब का साहित्य है। मुक्तिबोध की भाँति रांगेय राघव भी अपनी संवेदनाओं और विचारों के लिए विधाओं और शैलियों को अतिक्रमित करते रहते थे।

रांगेय राघव का पूरा साहित्य कई प्रकार के प्रश्नों, आशंकाओं, चिंताओं और जिज्ञासाओं के उत्तर का साहित्य है। कुछ उत्तर काव्यात्मक हैं तो कुछ गद्यात्मक। कुछ उत्तर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दिये गये हैं तो कुछ सामाजिक-राजनीतिक दृष्टिकोण से। कविता, उपन्यास, रिपोर्ताज, इतिहास, नाटक, औपन्यासिक जीवनी और आलोचनात्मक आलेख-कुछ विधागत रूप हैं जिनके माध्यम से उन्होंने प्रश्नों के उत्तर पाने और देने की कोशिश की है। इस विशेषता को डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने भी पहचाना है। उन्होंने लिखा है, "स्वर्गीय डॉ. रांगेय राघव का सम्पूर्ण साहित्य आलोचनात्मक है।"[31] रांगेय राघव की इस विशेषता को समझे और ध्यान में रखे बिना उनके आलोचनात्मक साहित्य का न तो ठीक से मूल्यांकन किया जा सकता है और न ही प्रगतिशील आलोचना में उसका स्थान ही निर्धारित किया जा सकता है। रांगेय राघव के सम्पूर्ण आलोचनात्मक साहित्य के अनुशीलन से उनके आलोचनात्मक विवेक और आलोचना-दृष्टि के विकास को समझा जा सकता है। लेकिन इससे पहले उनके बारें में एक प्रसिद्ध और प्रचलित धारणा पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

रांगेय राघव के समकालीन ही उन पर 'अति लेखन', 'जिद', 'आग्रह' या 'प्रतिक्रिया' में लेखन का आरोप लगाते रहे हैं। और यह उनकी मृत्यु के कई दशक बाद भी थमा नहीं है।[32]

इस प्रकार के आरोप लगाने वालों में प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ० रामविलास शर्मा, अमृतराय, राजेन्द्र यादव, भगवत शरण उपाध्याय[33] और प्रभाकर माचवे तो थे ही, साथ ही, उस काल के दूसरे प्रमुख-अप्रमुख साहित्यकार भी थे। इसमें संदेह नहीं होना चाहिए कि उनकी कई ऐसी कृतियाँ हैं जिनके शीर्षक, संरचना और विषयवस्तु पूर्वकालीन और समकालीन लेखकों की कृतियों की प्रतिक्रिया का आभास देती हैं और स्वयं रांगेय राघव ने इसे स्वीकार भी किया है। 'विषाद मठ', 'सीधा-सादा रास्ता'

और 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' में इसे देखा भी जा सकता है। लेकिन, रांगेय राघव के 'अतिलेखन', 'जिद', 'आग्रह' या 'प्रतिक्रिया' में लिखने का आरोप तथ्यात्मक रूप से यदि सत्य भी है तो उसकी व्याख्या यह नहीं हो सकती कि उनका साहित्य, उनके विचार या भाव सतही और दोयम दर्जे के हैं। जैसा कि इस तरह के आरोपों में अक्सर समझा जाता है। रांगेय राघव ने जीविकोपार्जन के लिए लेखन किया है लेकिन वह उनके रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य से अलग था। उन्होंने कई क्लासिकल कृतियों का अनुवाद किया था। कई उपन्यासों और कहानियों का पुनर्लेखन किया था। समाजशास्त्र और अपराध शास्त्र की कई कृतियाँ भी निर्मित की थीं। इन कृतियों का उद्देश्य जीविकोपार्जन था, लेकिन इनमें यह भावना भी थी कि हिन्दी जगत को उन महान कृतियों और अनुशासनों से परिचित कराया जाये जिन्होंने संसार को एक लम्बे समय से प्रेरणा दी है, दे रहे हैं।

'अतिलेखन', 'जिद', 'आग्रह' और 'प्रतिक्रिया' के आरोप की चर्चा इसलिए यहाँ विस्तार से की गयी है। क्योंकि किसी भी साहित्यकार के साहित्य तक पहुँचने से पहले ही इस तरह के आरोप-प्रत्यारोप आलोचनात्मक विवेक को भोथरा कर देते हैं। ऐसी धारणाओं और भ्रमों की सत्यता और सीमा को पहचानना, साहित्य के मूल्यांकन में सहायक होता है।

रांगेय राघव के भावनात्मक और वैचारिक विकास में परिवार की संस्कृत की पाण्डित्य परम्परा, गांधीवाद, रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य और सान्निध्य से प्राप्त संत साहित्य की मानववादी परम्परा और आजादी के पूर्व के जन आन्दोलनों में विकसित हो रहे मूल्यों का गहरा प्रभाव है। मार्क्सवाद का तो उन्होंने न केवल गहन अनुशीलन किया था बल्कि उसे भारतीय समाज और साहित्य के परिप्रेक्ष्य में विकसित करने का प्रयत्न भी किया था। रांगेय राघव की साहित्यिक यात्रा उस विक्षुब्ध वातावरण में शुरू होती है जिसमें एक ओर जन आन्दोलनों का अदम्य आवेग था तो दूसरी ओर औपनिवेशिक दमन। इसी बीच प्राकृतिक प्रकोप भी मानवीयता पर कहर बनकर टूटता है। 1943 ई. में रांगेय राघव अपना वह साहित्यिक व्यक्तित्व प्राप्त करते हैं, जिससे सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश परिचित

होता है। 'हंस' में धारावाहिक रूप में 'तूफानों के बीच' रिपोर्ताज छपता है। वास्तव में यह शीर्षक स्वयं रांगेय राघव के साहित्य-जीवन को भी अर्थपूर्ण ढंग से अभिव्यंजित करता है। इस रिपोर्ताज में उनकी प्रगतिशील-दृष्टि अद्यान्त परिलक्षित होती है। इस प्रकार रांगेय राघव के गम्भीर लेखन की शुरूआत उन प्रगतिशील मूल्यों को बल प्रदान करने के लिए हुई जिसके लिए वे अपने आलोचनात्मक साहित्य में जीवन पर्यन्त संघर्ष करते रहे हैं।

रांगेय राघव एक ओर जहाँ 'तूफानों के बीच' रिपोर्ताज लिख रहे थे वहीं दूसरी ओर वे गोरखनाथ' के साहित्यिक और सामाजिक-धार्मिक महत्व को रेखांकित करने के लिए चिन्तनशील भी थे। वास्तव में, 'गोरखनाथ और उनका युग' (लेखन-1944 से 1946 के बीच, प्रकाशन 1962) ही वह पहली पुस्तक है जिसमें रांगेय राघव के सभी प्रमुख विचार बिखरे मिलते हैं, जिनका परवर्ती काल में पल्लवन और विकास किया गया है।

'गोरखनाथ और उनका युग' शोध-प्रबन्ध लिखे जाते समय तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (1940) और 'कबीर' (1941) प्रकाशित हो चुकी थी। रांगेय राघव के चिंतन में इन पुस्तकों का असर भी देखा जा सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'नाथ साहित्य' हस्तलिखित रूप में रांगेय राघव के हाथों में थी। बाद में, वह प्रकाशित भी हुई। लेकिन गोरखनाथ पर जितनी व्यापकता के साथ रांगेय राघव ने विचार किया है वह वहाँ अनुपलब्ध है।

गोरखनाथ को इतना महत्व दिये जाने या उनके प्रति आकर्षित होने का क्या कारण था? इसका उत्तर स्वयं रांगेय राघव ने इस प्रकार दिया है, "विद्वानों ने गोरखनाथ पर दृष्टिपात किया भी तो उन्हें उनका महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया।"[34]

क्योंकि गोरखनाथ एक ऐसे युग में पैदा हुए थे जिसको समझे बिना "इतिहास....शृंखलाबद्ध नहीं हो सकता"[35] था इसलिए उन्हें 'महत्वपूर्ण स्थान' दिया जाना चाहिए। गोरखनाथ की ओर इतना ध्यान देने के पीछे रांगेय राघव के पास एक और भी कारण है, "गोरखनाथ ब्राह्मण धर्म तथा व्यवस्था के बाहर स्थित सम्प्रदायों का वैसा ही विराट सम्मेलन है जैसा कि विभिन्न मतान्तरों का सम्मेलन हिन्दू धर्म

रांगेय राघव जब 'विराट सम्मेलन' कह रहे हैं तो वे उसी धारणा का सूत्रपात कर रहे हैं जिसे परवर्ती काल में उन्होंने 'अन्तर्भुक्ति' नाम दिया है। इस 'अन्तर्भुक्ति' को इतिहास के माध्यम से चित्रित करने की छटपटाहट भी यहाँ विद्यमान है। वे लिखते हैं, "जिस प्रकार अंग्रेजों के आने पर भारत में आये परिवर्तन को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक आर्यों से लेकर अंग्रेजों तक के इतिहास की आर्थिक व्यवस्था को ठीक तरह नहीं समझ लिया जाता। इसी तरह गोरखनाथ को समझना तब तक असम्भव है जब तक आर्यों से पूर्व से लेकर उनके युग तक की धर्म साधना का रेखाचित्र नहीं समझ लिया जाता है।"[37] परवर्ती काल में रांगेय राघव ने 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) 'भारतीय चिंतन' (1949) और 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' (1953) सहित विभिन्न आलोचनात्मक और रचनात्मक कृतियों में इन विचारों को बढ़ाया है। 'गोरखनाथ और उनका युग' की भूमिका में वे लिखते हैं, "इस देश को इतिहास आर्यों से पहले प्रारम्भ होता है....भारतीय संस्कृति में बहुत कुछ आर्येतर है।"[38] इसका पल्लवन 'मुर्दों का टीला' (1948) से लेकर 'महाकाव्य विवेचन' (1958) के 'धर्म की मानववादी परम्परा और विकास' आलेख तक में देखा जा सकता है।

रांगेय राघव ने 'गोरखनाथ और उनका युग' में इतिहास, हिन्दी साहित्य, कबीर, तुलसीदास और समाज-संस्कृति से जुड़े दूसरे विषयों पर जहाँ अपने विचार व्यक्त किये हैं वहीं उन्होंने हिन्दी साहित्य के काल विभाजन का नया प्रस्ताव भी रखा है। वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के काल-विभाजन से असहमति व्यक्त करते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन अपभ्रंश काल, संधियुगीन नाथ सम्प्रदाय कविता और हिन्दी युग के रूप में करते हैं।[39] यह काल विभाजन आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के 'स्वाभाविक विकास' की अवधारणा का ही अधिक विस्तार है। इस काल-विभाजन के औचित्य और इसमें निहित तर्क पर चर्चा की जा सकती थी, परन्तु न तो डॉ. रामविलास शर्मा ने इस ओर ध्यान दिया और न ही डॉ० नामवर सिंह सहित दूसरे आलोचकों ने।

रांगेय राघव की दूसरी आलोचनात्मक कृति 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका'

(1946) है। इस पुस्तक में साम्प्रदायिक दंगों की अनुगूँज सुनने को मिलती है। रांगेय राघव ने अत्यन्त आवेगपूर्ण शैली में पूरी पुस्तक लिखी है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस पुस्तक के उन अंशों को उद्धृत किया है जिनमें उन्हें 'पुनरूत्थान' की भावना दिखती है।[40] यह सच है कि रांगेय राघव की इस पुस्तक में आलोचना-दृष्टि कहीं-कहीं आवेग के धुन्ध से साफ़ नहीं रह पाती। लेकिन, इसी पुस्तक में 'अतीत के गौरव' को 'एक भयानक पिशाच' भी कहा गया है, जो "ज्ञान के और बुद्धि के पिण्ड को खाकर तृप्ति पाता है।"[41] 'पुनरुत्थानवाद' की चर्चा करते समय डॉ. रामविलास शर्मा ऐसे विचारों को उद्धृत नहीं करते।

रांगेय राघव ने इतने व्यापक रूप से पहली बार हिन्दी साहित्य के समक्ष भारतीय पुनर्जागरण की प्रक्रिया को रखा। वे मध्यकालीन आन्दोलनों और आधुनिक युग के इस पुनर्जागरण के बीच अन्तर और सम्बन्ध देखते हैं। भक्तिकालीन जन आन्दोलन की सीमा भी वे पहचानते हैं और अंग्रेजों के प्रभाव से उत्पन्न इस पुनर्जागरण की महत्ता को भी पहचानते हैं। वे डॉ. रामविलास शर्मा के विपरीत अंग्रेजों के आगमन से हुए लाभ को स्वीकार करते हैं।

रांगेय राघव ने इस पुस्तक में पुनर्जागरण के कारणों, उस पुनर्जागरण का हिस्सा बने जागरूक विद्वानों, नेताओं, संगठनों और समाजों की भूमिका और महत्व को रेखांकित किया है। राजा राममोहन राय और आर्य समाज की भूमिका को उन्होंने काफ़ी महत्वपूर्ण पाया था। पुस्तक जब लिखी गयी थी तब भारतीय महाद्वीप में साम्प्रदायिकता का अन्धड़ बह रहा था लेकिन रांगेय राघव ने अपना विवेक नहीं खोया था। वे जानते थे, "जनता में सदैव समान भावना रही क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम जनता दोनों पर समान अत्याचार थे।"[42]

इस पुस्तक में 'नवजागरण' और 'पुनर्जागरण' दो पदों का प्रयोग किया गया है। इन पदों के प्रयोग में रांगेय राघव के दृष्टिकोण की व्यापकता और स्पष्टता का पता चलता है। 'नवजागरण' का प्रसंग 'रूस की क्रान्ति'[43] के संदर्भ में आया है जबकि भारत के सन्दर्भ में मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक के लिए 'पुनर्जागरण' शब्द का प्रयोग किया गया है। रांगेय राघव के अनुसार, इस देश में "अनेक बार साधु और

संतों ने देश को जगा देने का प्रयत्न किया।''[44] लेकिन उस 'जगा देने' और आधुनिक जागरण में फर्क है। "वह प्रयत्न समाज सुधार मात्र रह गया।''[45]

रांगेय राघव के विचारों में प्रारम्भ से ही यह पद्धति प्रबल थी कि किसी भी दर्शन, धर्म, समाज, राजनीति, साहित्य आदि के मूल में उस युग की आर्थिक शक्तियों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हाथ रहता है। मार्क्स के विचारों से प्रभावित रांगेय राघव हर युग के दर्शन, धर्म, समाज, राजनीति और साहित्य को इसी पद्धति से विश्लेषित करने की कोशिश करते हैं।

रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की ही भाँति रांगेय राघव 'मानव' की जय यात्रा में अगाध विश्वास रखते हैं। मार्क्सवाद का 'मानव की जय यात्रा' से किसी प्रकार का विरोध हो, ऐसा नहीं है। लेकिन इस 'जय यात्रा' को विशाल भारतीय इतिहास में निरन्तरता के साथ चिह्नित कर पाना सुकर न था। रांगेय राघव ने 'भारतीय चिन्तन' (1949) में इसे साधने की कोशिश की है। वे बिल्कुल नयी और अद्वितीय पद्धति से संतों और उनके चिंतन के बारे में विचार करते हैं। उन्हें यह प्रश्न काफ़ी उत्तेजित करता है कि "भारतीय समाज में इतने अधिक संत क्यों हैं?''[46] आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी रांगेय राघव से पूर्व ही हिन्दी जगत को संतों की परम्परा से परिचित करा चुके थे। वे 'मध्यकालीन धर्म साधना' के विभिन्न रूपों पर भी विचार कर चुके थे। लेकिन अनार्य परम्परा के संतों से लेकर गांधीजी तक की लम्बी संत परम्परा का विवेचन रांगेय राघव का अपना है, अनोखा है। गाँधीजी की अहिंसा, त्याग और प्रेम रांगेय राघव को संतों की ही परम्परा का आधुनिक रूप प्रतीत होता है। वे स्पष्टतया लिखते हैं कि जो लोग गाँधी को 'राजनीतिज्ञ' ही मानते हैं या 'पूँजीवाद का जानकार समर्थक' मानते हैं, उनके ऐसा करने के पीछे 'अशिक्षा' है।[47]

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की ही भाँति रांगेय राघव संतों की उस परम्परा के अधिक प्रशंसक हैं जो ब्राह्मणवाद, जात-पाँत और असमानता के कठोर विरोधी हैं। इस लिहाज से वे कबीर, गोरखनाथ और वैष्णवों की उदार शाखा से अधिक सहानुभूति रखते हैं। तुलसीदास के प्रति उन्होंने कठोर आलोचनात्मक रूख अपनाया है। 'भारतीय चिन्तन' (1949) से पूर्व 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में भी

तुलसीदास को उन्होंने 'ब्राह्मणवाद' का समर्थक माना है। 'भारतीय चिन्तन' (1946) में उन्होंने अधिक स्पष्टता से लिखा है, "तुलसी ने न केवल वेद को लिया, वरन् उस रूढ़िवादी ब्राह्मणवाद को लिया जिसने पुराणों की रचना की थी।"[48] रांगेय राघव के ये विचार परवर्ती काल में और भी अधिक तीखेपन के साथ व्यक्त होते हैं।

रांगेय राघव के आलोचनात्मक चिंतन और लेखन का एक अध्याय 'भारतीय चिंतन' से खत्म होता है। इसके बाद जो अध्याय शुरू होता है वह प्रगतिशील आलोचना का भी सर्वाधिक उग्र विवादों का अध्याय है। रांगेय राघव के कई लेखों का संकलन है–'संगम और संघर्ष' (1953)। इस पुस्तक में विवादों की पूरी श्रृंखला देखने को मिलती है। ऐतिहासिक उपन्यासों में यथार्थ का वर्णन-चित्रण कैसा हो, इसको लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ था। रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला' (1948) इसके केन्द्र में था। इसमें चित्रित समाज और वातावरण की 'अयथार्थता' पर भगवत शरण उपाध्याय ने तो आक्षेप किये ही थे, डॉ. राम विलास शर्मा ने इसमें 'पुनरूत्थानवाद' की भावना परिलक्षित की। इनका उत्तर रांगेय राघव ने 'संगम और संघर्ष' (1953) में दिया है। उन्होंने यथार्थवाद, ऐतिहासिक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद की विस्तृत चर्चा करते हुए एंगेल्स की 'यथार्थवाद' सम्बन्धी मान्यताओं से अपनी सहमति जतायी।

गाँधी, पंत और तुलसीदास तीन ऐसे व्यक्ति थे जो प्रगतिशील आलोचना में विवाद के केन्द्र में आ-आ जाते थे। तुलसीदास पर रांगेय राघव के 'दृष्टिकोण' ने तो विवाद को और भी उग्र बना दिया। इसी समय भाषा, साहित्य अैर राजनीति, साहित्य और पार्टी और साहित्यकार और पार्टी के सम्बन्धों को लेकर भी असहमति और विवाद थे। रांगेय राघव ने साहित्यकार की 'सापेक्ष स्वायत्तता' पर बल दिया।

1955 ई० के आस-पास तक प्रगतिशील आलोचना के विवाद विवाद न रहकर वितंडावाद की शक्ल अख्तियार कर चुके थे। 'हंस' सहित विभिन्न पत्रिकाओं में विभिन्न मुद्दों पर आरोप-प्रत्यारोप लगाये जा रहे थे। इन्हीं लेखों का संग्रह बाद में पुस्तकाकार रूप में 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' (डॉ० रामविलास शर्मा), 'साहित्य में संयुक्तमोर्चा' (अमृतराय) 'प्रगतिवाद' (शिवदान सिंह चौहान) और 'साहित्य की परख'

Diss
0,152,3,N23:g 152P31

TH-11182

Jawaharlal Nehru University Library

(शिवदान सिंह चौहान) के नाम से छपे हैं। रांगेय राघव ने 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' (1953) के बाद 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' (1954) में उस युग के सारे विवादों को समाहित करते हुए अपना पक्ष रखा। 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' (1954) में रांगेय राघव के सम्पूर्ण आलोचनात्मक विचारों का सार समाहित हो जाता है। "इसमें रस, सन्त सम्प्रदाय, गाँधीवाद, भाषा, कम्युनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील आन्दोलन के सम्बन्ध और मतभेद, ईश्वर, धर्म, प्रकृति, राजनीति, रोमांस, प्रेम आदि"[49] विभिन्न विषयों पर अत्यन्त तार्किक ढंग से विचार किया गया है। एक प्रकार से रांगेय राघव का प्रगतिशील आलोचना में प्रत्यक्ष और सक्रिय हस्तक्षेप होता है। 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' (1954) में उठाये गये प्रश्नों और विवादों को विस्तार से द्वितीय अध्याय में विवेचित किया जायेगा।

1947 ई० में देश आजाद हो जाता है। आज़ादी के बारे में मार्क्सवादियों, समाजवादियों और प्रगतिशील साहित्यकारों की अपनी-अपनी राय थी। उसी समय भारत के कुछ हिस्सों में सशस्त्र आन्दोलन चल रहे थे। ऐसी जटिल और भ्रान्ति की स्थिति का साहित्य और उसकी विचारधारा पर भी प्रभाव पड़ रहा था। यथार्थवाद, विचारधारा और साहित्य और राजनीति के आपसी सम्बन्धों का प्रश्न नया नहीं था। प्रगतिशील आन्दोलन के शुरू से ही ये प्रश्न आलोचना के केन्द्र में थे। लेकिन अब प्रयोगवाद, यौनवाद, प्रतीकवाद और नयी कविता की धारा भी अपना प्रभाव दिखा रही थी। ऐसे समय में रांगेय राघव ने यथार्थवाद, प्रगति, शास्त्र, कला, विचारधारा, राजनीति और साहित्य के आपसी सम्बन्धों पर विचार करते हुए 1955 ई० में ही तीन पुस्तकें लिखीं। 'समीक्षा और आदर्श' (1955) में उन्होंने पहली बार 'जिजीविषा' और 'सदिच्छा' की अवधारणाएँ पूरी दृढ़ता के साथ रखीं। वर्ग मुक्ति संभव है। यह 'सदिच्छा' का परिणाम होता है। वे लिखते हैं, "सदिच्छा मनुष्य की मूल चेतना है जिसको जिजीविषा जीने की इच्छा कहते हैं, वह अपने व्यापकतम स्वरूप में लेखक में प्रकट होती है।"[50] अन्ततः रांगेय राघव इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते हैं कि 'सदिच्छा' और 'जिजीविषा' ही 'मानवतावाद' है और "यही मानवतावाद साहित्य का स्थायी मूल्य है।"[51]

'समीक्षा और आदर्श' (1955) में छूट गये सवालों के जवाब रांगेय राघव 'काव्य, कला और प्रगति' (1955) में देते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने 'राह के दीपक' में संकलित 'वन्दना' कविता के आधार पर रांगेय राघव पर 'नस्लवादी' होने का आरोप लगाया था। रांगेय राघव ने इस आरोप का अत्यन्त दृढ़ता से खण्डन किया है। उन्होंने 'काव्य, कला और प्रगति' (1955) में यह भी खुलासा किया है कि 'राह के दीपक' में संकलित 'वन्दना' कविता के लिखे जाने की पृष्ठभूमि और प्रेरणा क्या रही है। 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' की साम्प्रदायिक और आक्रामक मांगें और 'द्रविड़ संघ' के 'आर्य-अनार्य' विवाद उस कविता के लिए प्रेरक साबित हुए।

वैसे तो रांगेय राघव का सम्पूर्ण आलोचनात्मक लेखन बहस-मुबाहिसे के बीच ही अपना रूप ग्रहण करता रहा है लेकिन 'काव्य, कला और शास्त्र' (1955) में बहस और विवादों का तीखापन कम है। यहाँ वे कविता, कला और शास्त्र पर गम्भीरता से विचार करते हैं। अपनी विशेष शैली में रांगेय राघव बार-बार इतिहास की ओर आते-जाते हैं। वे ऋग्वेद से लेकर समकालीन साहित्य तक की यात्रा करके उससे अपनी धारणाओं को पुष्ट करते हैं।

ऋग्वेद से भक्तिकाल तक के साहित्य की यह यात्रा 'महाकाव्य विवेचन' में देखने को मिलती है।

'परम्परा का मूल्यांकन' रांगेय राघव का एक प्रमुख आलोचनात्मक कर्म है। वे ऋग्वेद को 'प्राचीन कविता' मानकर उसका विश्लेषण करते हैं। इसी प्रकार वे 'रामायण', 'महाभारत' और भक्तिकालीन साहित्य का विश्लेषण करके प्रगतिशील आलोचना के लिए एक समृद्ध परम्परा की पृष्ठभूमि तैयार करने का प्रयत्न करते हैं।

अपने आलोचनात्मक-कर्म के तीसरे अध्याय में रांगेय राघव ऐसी आलोचनात्मक कृतियों के प्रणयन में जुटते हैं जिनका विवादों से सीधा सम्बन्ध नहीं है। 'तुलसीदास का कथा शिल्प' (1959), 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार' (1961) और 'आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली' (1962) नामक पुस्तकें प्रगतिशील आलोचना के तीखे विवादों से बाहर की हैं। हालांकि विवादों की चुनौतियाँ यहाँ भी विद्यमान हैं। तुलसीदास को रांगेय राघव ने ब्राह्मणवाद का पुनर्स्थापक माना है।

तुलसीदास को लेकर डॉ. रामविलास शर्मा से उनके तीखे विवाद भी हुए हैं लेकिन रांगेय राघव आक्षेप और आरोप लगाकर शान्त होने वाले आलोचक नहीं हैं। उन्होंने विभिन्न रामकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके अपनी स्थापनाओं के बारे में तथ्यात्मक प्रमाण जुटाये हैं। रामकथाओं की तुलना करके रांगेय राघव ने जिस आलोचना-दृष्टि का परिचय दिया है, वह प्रगतिशील आलोचना के लिए ही नहीं, हिन्दी आलोचना मात्र के लिए उपलब्धि है।

मृत्यु से थोड़ा ही पहले रांगेय राघव ने अपना ध्यान तत्कालीन उन कवियों और कविताओं पर केन्द्रित किया जो प्रेम, नारी आदि विषयों से सम्बन्धित होने के कारण प्रगतिशील आलोचकों के लिए उपेक्षा का कारण थीं। रांगेय राघव ने अपने समय की पत्रिकाओं में प्रकाशित विभिन्न ज्ञात-अज्ञात कवियों की कविताओं के माध्यम से प्रेम और नारी के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। रांगेय राघव की अन्य पुस्तकों की ही भाँति 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार' (1961) और 'आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली' (1962) में भी तत्कालीन उन सभी साहित्यिक-सामाजिक मुद्दों पर बहस मिल जाती है, जो उस समय बहस के केन्द्र में थे। रांगेय राघव की ये दोनों पुस्तकें मधुरेश के शब्दों में बहुत गम्भीर अध्ययन-मनन का परिणाम नहीं थीं लेकिन, इसके बावजूद, इनमें ऐसे विचार सूत्र बिखरे पड़े हैं जो हिन्दी आलोचना को गति प्रदान कर सकते हैं।

'कालविजय', 'काव्य के मूल विवेच्य' और 'हिन्दी साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पूर्वपीठिका' नामक पुस्तकों में से 'कालविजय' (प्रकाशन वर्ष अनुपलब्ध, सम्भवत: 1955 के बाद) आज भी उपलब्ध हो जाती है। परन्तु शेष दो पुस्तकें अब अनुपलब्ध हैं। लेकिन रांगेय राघव के सम्पूर्ण आलोचनात्मक लेखन को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इन पुस्तकों में भी उन्हीं विषयों पर चर्चा की गयी होगी जिनके बारे में वे अपनी दूसरी आलोचनात्मक कृतियों में बार-बार बात करते हैं। 'काल विजय' को भी इस प्रसंग में देखा जा सकता है। यह पुस्तक रांगेय राघव के उन विचारों का संकलित रूप प्रस्तुत करती है जो उनकी विभिन्न पुस्तकों में बिखरे पड़े हैं।

रांगेय राघव के सम्पूर्ण आलोचनात्मक लेखन का एक रेखाचित्र प्रस्तुत करते हुए यहाँ यह दिखाने की कोशिश की गयी है कि किस प्रकार से रांगेय राघव प्रारम्भ से ही प्रगतिशील आलोचना से जुड़े विभिन्न वैचारिक बहसों में सक्रिय भागीदारी करते हुए प्रगतिशील आलोचना के लिए नये-नये मानदण्ड खोज रहे थे। हिन्दी आलोचना में रांगेय राघव का हस्तक्षेप दूसरे आलोचकों से इस अर्थ में भिन्न है कि वे आलोचना में किसी भी प्रकार की कट्टरता या यांत्रिकता के पक्षधर न थे। वे मार्क्सवादी थे लेकिन मार्क्सवाद को 'कुत्सित समाजशास्त्र' में बदल देने वाले आलोचकों से उनका विरोध था।

रांगेय राघव ने प्रगतिशील आलोचना को इतना व्यापक परिप्रेक्ष्य देने का प्रयास किया कि उसके अन्दर पूर्व वैदिक परम्पराओं से लेकर गाँधी तक की मानवीय और क्रान्तिकारी परम्पराएँ समाहित हो सकें। वे आलोचना को साहित्यालोचना ही नहीं, 'सभ्यता-समीक्षा' की व्यापकता प्रदान कर रहे थे।

संदर्भ स्रोत

1. डॉ० नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान, प्रथम संस्करण की भूमिका।
2. नाभादास, भक्तमाल
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-129
4. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ.-396-397
5. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु समग्र (सं. हेमन्त शर्मा), पृ.-559
6. वही, पृ.-558
7. वही, पृ.-559
8. वही, पृ.-559
9. डॉ० मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.-56
10. वही, पृ.-56
11. अभिनव गुप्त, अभिनव भारती, पृ.-505
12. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-257
13. वही, पृ.-87
14. डॉ० मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.-58
15. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-290
16. वही, पृ.-1
17. डॉ० मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.-59
18. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-76-78-79
19. वही, पृ.. 75
20. वही, पृ.-43
21. वही, पृ.-75

22. वही, पृ.-89
23. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ.-20
24. डॉ० नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, पृ.-13
25. डॉ० कर्णसिंह चौहान, प्रगतिवादी आन्दोलन का इतिहास, पृ.-197
26. वही, 197
27. वही, पृ.-197
28. वही, पृ.-195
29. वही, पृ.-197
30. डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, (सं.) परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, पृ.-243
31. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, 'रांगेय राघव की समीक्षा', साहित्य संदेश, जनवरी-फरवरी, 1963, पृ.-309
32. आगरा और जयपुर में रांगेय राघव के जितने भी परिचितों और जानकारों से मैं शोध-कार्य के दौरान मिला, उन सभी ने इस प्रकार के प्रसंगों की चर्चा की।
33. डॉ. गोविन्द रजनीश द्वारा संपादित 'रांगेय राघव का रचना संसार' मैक मिलन कं०, दिल्ली, में संकलित विभिन्न आलेखों में इसे देखा जा सकता है।
34. रांगेय राघव, गोरखनाथ और उनका युग, भूमिका
35. वही, पृ.-147
36. वही, पृ.-147
37. वही, पृ.-259
38. वही, भूमिका
39. वही, 203
40. डॉ० रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य और मार्क्सवाद, पृ.-184
41. रांगेय राघव, भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका, पृ.-80

42. वही, पृ.-86
43. वही, पृ.-107
44. वही, पृ.-125
45. वही, पृ.-125
46. रांगेय राघव, भारतीय संत परम्परा और समाज, पृ.-5
47. वही, पृ.-100
48. वही, पृ.-137
49. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, भूमिका
50. रांगेय राघव, समीक्षा और आदर्श, पृ.-25
51. वही, पृ.-148

दूसरा अध्याय

प्रगतिशील आलोचना के विवाद और रांगेय राघव

1. विवाद की शुरूआत
2. प्रगति, प्रगतिशीलता और प्रगतिवाद
3. विवादों के बीच प्रगतिशील लेखक संघ
4. यथार्थवाद और विचारधारा
5. परम्परा का मूल्यांकन
6. भाषा की समस्या
7. कुछ और विवाद

1. विवाद की शुरूआत

'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ ही हिन्दी साहित्य में कुछ बहसें उठ खड़ी होती हैं। 1936 ई० में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई थी और 1937 ई० में शिवदान सिंह चौहान का लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' प्रकाशित हुआ। 'प्रगतिशील लेखक संघ' के घोषणा पत्र में वे तर्क बीज रूप में उपस्थित थे, जिनका पल्लवन 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' में किया गया। घोषणा पत्र घोषणा करता है, "भारतीय साहित्य की विशेषता यह रही है कि वह जीवन की यथार्थताओं से भागता है और वास्तविकता से मुँह मोड़कर भक्ति और उपासना की शरण में जा छिपा है....वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है।"[1] लगभग यही अति-उत्साही स्वर शिवदान सिंह चौहान का भी है, "इस छायावाद की धारा ने हिन्दी साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुँचाया हो।"[2] बाद में, स्वयं शिवदान सिंह चौहान ने भी माना है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण 'अतिवाद' से ग्रस्त था।[3]

उपर्युक्त दोनों उद्धरण यह दिखलाते हैं कि प्रगतिशील साहित्य और आन्दोलन की प्रारम्भिक वैचारिक स्थिति क्या थी। ये दृष्टिकोण जो 'घोषणा पत्र' और 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' में व्यक्त हुए हैं, परवर्ती काल में घनघोर विवाद के लिए आधार तैयार करने वाले साबित हुए।

प्रगतिशील आलोचना में विवादों की एक समय सीमा है। प्रारम्भिक तौर पर ये 'विवाद' तो थे परन्तु उतने उग्र न थे। लेकिन 1949 ई० से लेकर 1954 ई० तक ये विवाद अधिकाधिक उग्र और असंतुलित होते चले गये। विवादों के कई कोण, विवादों के मुद्दों और विवादों में भाग लेने वाले साहित्यकारों के आधार पर बन रहे थे। विवाद के कुछ मुद्दे राजनीतिक थे तो कुछ सामाजिक। साहित्य के मुद्दे तो थे ही।

प्रारम्भ में शिवदान सिंह चौहान और डॉ० रामविलास शर्मा के बीच यह विवाद छिड़ता है लेकिन आगे चलकर अमृतराय, रांगेय राघव, यशपाल, प्रकाशचन्द्र गुप्त, राहुल सांकृत्यायन और मुक्तिबोध भी इस विवाद में शामिल हो जाते हैं या कर लिये जाते हैं। वैसे राहुल सांकृत्यायन और मुक्तिबोध ने विवाद में सक्रिय भागीदारी नहीं

की, वे बाहर से ही हस्तक्षेप करते रहे। जिस युग में ये सारे राजनीतिक-सामाजिक और साहित्यिक विवाद उठ खड़े थे, वह युग अत्यधिक हलचलों से भरा था।

विवाद के कारणों पर लेखकों की अलग-अलग राय है। डॉ० रामविलास शर्मा, "विवाद का कारण.....मार्क्सवाद, भारतीय राजनीति और साहित्य के बारे में इन लेखकों में तीव्र मतभेद"[4] को मानते हैं। प्रगतिशील आलोचना में विवाद के कई कारण थे। घोषणा पत्र और 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' से स्पष्ट होता है कि परम्परा के मूल्यांकन में जो दृष्टिकोण अपनाया जा रहा था, वह विवाद के लिए आधार तो प्रदान ही कर रहा था, कुछ दूसरे विवाद भी लम्बे समय तक चर्चा में थे। इन विषयों में प्रगतिवाद अथवा प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा, साहित्य और यथार्थवाद, साहित्य और विचारधारा, साहित्य और राजनीति, साहित्य, साहित्यकार और राजनीतिक पार्टी, साहित्य और अश्लीलता, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, प्रगतिशील लेखक संघ, भाषा की समस्या, गाँधी, पंत और छायावाद प्रमुख थे। इन विवादों में भारतीय समाज और राजनीति के स्वरूप का मार्क्सवादी दृष्टि से विश्लेषण का प्रश्न भी शामिल था।

2. प्रगति, प्रगतिशीलता या प्रगतिवाद

'प्रगतिशील लेखक संघ' के अध्यक्ष पद से प्रेमचन्द ने 1936 ई० में ही कहा था, "प्रगतिशील लेखक संघ यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है।"[5] प्रेमचन्द ने यदि साहित्यकार या कलाकार को स्वभावतः प्रगतिशील माना है तो बहुत बाद में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिशील और प्रगतिवाद दोनों शब्दों में अन्तर दिखलाया है। वे लिखते हैं, "प्रगतिशील व्यापक शब्द है, किन्तु प्रगतिवाद एक निश्चित तत्ववाद को सूचित करता है।"[6] आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के इस विभाजन को ही ध्यान में रखते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि "कुछ लोग प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य में भेद करते हैं। उनके अनुसार मार्क्सीय सौंदर्य शास्त्र का नाम प्रगतिवाद है और आदिकाल से लेकर अब तक

की समस्त साहित्य परम्परा प्रगतिशील साहित्य है।''[7] एक वर्ग और है जो प्रगतिवाद और प्रगतिशील की अलग-अलग व्याख्या करता है। यह वर्ग "मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धान्त तथा इस सिद्धान्त के अनुसार रचे हुए साहित्य को प्रगतिवाद कहना चाहता है और छायावाद के बाद की व्यापक सामाजिक चेतना वाले समस्त साहित्य को 'प्रगतिशील साहित्य' कहता है जिसमें विभिन्न राजनीतिक मतों के बावजूद एक सामान्य मानवतावादी भावना व्याप्त है।''[8]

इस प्रकार 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' शब्दों की व्याख्या और अवधारणा में अन्तर देखा जा सकता है। यह बात अलग है कि डॉ० नामवर सिंह अन्ततः इन दोनों के बीच अन्तर नहीं मानते। वे 'प्रोग्रेसिव लिट्रेचर' अथवा 'प्रगतिशील साहित्य' को ही "कालक्रम अथवा प्रकारान्तर से 'प्रगतिवाद' ''[9] हो गया, मानते हैं।

प्रगति क्या है? प्रगतिशील या प्रगतिवाद क्या है? जैसे प्रश्न प्रगतिशील आलोचना के दौरान भी उठे हैं। 'प्रगतिशील' शब्द का प्रयोग करते हुए ऐसे साहित्य की आवश्यकता पर बल देने की बात शिवदान सिंह चौहान ने 1937 ई० में ही की थी। और बाद में, उन्होंने स्वीकार भी किया था, "मुझे यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि प्रगतिवाद की विचारधारा मूलतः मार्क्सवादी दर्शन, 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' और मार्क्सवादी समाज विज्ञान 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से प्रभावित है।''[10]

प्रगतिवाद को शिवदान सिंह चौहान ने मार्क्सीय दर्शन से प्रभावित माना है परन्तु वे प्रेमचन्द को जब 'प्रगतिशील लेखक' कहते हैं, 'प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) नहीं'[11] तो उनकी दृष्टि में इन दोनों शब्दों में निहित अन्तर स्पष्ट हो जाता है। शिवदान सिंह चौहान की दृष्टि में इन दोनों शब्दों में जो अन्तर मिलता है, वह आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की समझ से भिन्न नहीं है।

प्रगतिवाद और प्रगतिशील शब्दों को लेकर राहुल सांकृत्यायन के यहाँ कोई द्वन्द्व नहीं है। वे इन दोनों शब्दों में वही धारणा निहित मानते हैं जो शिवदान सिंह चौहान के 'प्रगतिवाद' में निहित है। वे लिखते हैं, "प्रगतिशीलता का रास्ता स्थितिशील-स्थिर नहीं गतिशील है।''[12] राहुल सांकृत्यायन 'गतिशीलता' को वायवीय नहीं मानते। "गति ठोस जमीन या साकार माध्यम का आधार लेकर होती है। वह निरुद्देश्य नहीं

एक महान लक्ष्य को लेकर है।''[13] राहुल सांकृत्यायन की दृष्टि में "प्रगति का स्रोत उसका (लेखक का) दिमाग नहीं है बल्कि वह चीज़ जिससे प्रगति को शक्ति मिलती है और यह शक्ति स्रोत जानता है।''[14] स्पष्ट है कि राहुल सांकृत्यायन की दृष्टि में 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' को लेकर किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं हैं। वे 'प्रगतिशील' और 'प्रगतिशीलता' को मार्क्सीय सौंदर्यशास्त्र के अनुरूप सीधे जनता से सम्बद्ध मानते हैं। वे 'प्रगतिवाद' को कोई 'कल्ट' या 'संकीर्ण सम्प्रदाय' नहीं मानते और न ही 'प्रगतिवाद' में 'कला की अवहेलना' को ही स्वीकार करते हैं। वे तो यहाँ तक मानते हैं कि 'प्रगतिवादी विचारधारा' से अपने को समृद्ध किये "प्रगतिशील लेखक जनकल्याण के हामी हैं।''[15] इस प्रकार राहुल सांकृत्यायन द्वारा 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' दोनों शब्द का प्रयोग किया जाता है परन्तु दोनों की धारणा में अन्तर नहीं मिलता।

शिवदान सिंह चौहान और राहुल सांकृत्यायन से कुछ अर्थों में सहमति व्यक्त करते हुए और कुछ अर्थों में असहमति व्यक्त करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा 'प्रगतिशील' और 'प्रगतिशीलता' की व्याख्या करते हैं। वे 'प्रगतिशील' शब्द का प्रयोग लगभग उसी अर्थ में करते हैं जिस अर्थ में शिवदान सिंह चौदान ने 'प्रगतिवाद' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार, "प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।''[16] लेकिन डॉ. रामविलास शर्मा साहित्य की साहित्यिकता के महत्व को कम नहीं आंकते। उनके अनुसार, "प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है।''[17]

'प्रगति' और साहित्य में 'प्रगति' का क्या अर्थ होता है, इससे शिवदान सिंह चौहान, राहुल सांकृत्यायन और डॉ० रामविलास शर्मा की कोई बुनियादी असहमति नहीं है। लेकिन डॉ. रामविलास शर्मा स्पष्ट रूप से अपनी असहमति वहाँ व्यक्त करते हैं जहाँ 'श्रेष्ठ साहित्य तो प्रगतिशील होता ही है' की धारणा प्रस्तुत की जाती है। डॉ० रामविलास शर्मा साहित्य की प्रगतिशीलता को "समाज पर साहित्य के शुभ और अशुभ प्रभाव'' के दृष्टिकोण से निर्धारित करते हैं। इस तर्क में यह भी अन्तर्निहित माना जा सकता है कि साहित्य केवल प्रगतिशील ही नहीं होता बल्कि प्रतिगामी या प्रतिक्रियावादी भी होता है। डॉ० नामवर सिंह ने बाद में इसे स्पष्टतया स्वीकार भी

किया है, "प्रगतिवाद ने अपने नाम के साथ ही यह संकेत कर दिया कि साहित्य प्रतिगामी अथवा प्रतिक्रियावादी भी होता है।"[18]

डॉ० रामविलास शर्मा ने 'प्रगतिवाद' की अपेक्षा 'प्रगतिशील' शब्द का प्रयोग ही अधिक किया है। वे 'प्रगतिशील' शब्द में यथार्थवाद, समाजोन्मुखता और परिवर्तन की धारणा का समावेश पाते हैं।

यह रोचक तथ्य है कि 'प्रतिशील लेखक संघ' की स्थापना 1936 ई० में ही हो गई थी लेकिन 'प्रगति', 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' को लेकर बहस-मुबाहिस उसके बाद एक दशक से अधिक समय तक चलता रहा। सितम्बर 1947 ई० के 'हंस' में अमृत राय ने कुछ प्रश्न उठाये थे, उनमें से एक प्रश्न यह भी था कि "प्रगतिशील साहित्य से क्या मतलब है।"[19]

'प्रगति', 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' शब्द में मार्क्सीय विचारों का प्रभाव है और इन शब्दों में जनोन्मुखता भी निहित है, इस तर्क से उस काल के सभी साहित्यकार सहमत थे लेकिन मार्क्सीय विचारों के 'प्रभाव' और जनोन्मुखता या जनता के प्रति निष्ठा की स्थिति कितनी और कैसी है, इसके बारे में आशंकाएँ थीं। संभवत: इसीलिए बार-बार 'प्रगति', 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' शब्दों की परिभाषा करने की आवश्यकता पड़ती थी। इसके अतिरिक्त राजनीतिक-सामाजिक स्तर पर भी दुनिया भर में इतने आरोह-अवरोह दिखाई पड़ते हैं कि उनके दबाव में सारी वैचारिक और सैद्धान्तिक परिभाषाएँ बार-बार अधूरी प्रतीत होने लगती हैं। इसीलिए वे बार-बार परिभाषित की जा रही थीं।

रांगेय राघव हिंदी प्रगतिशील आलोचना में सक्रिय भागीदारी रखने वाले साहित्यकार हैं। वे इन चर्चाओं से दूर कैसे रह सकते थे। 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' (1954) में उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "प्रगति जन कल्याण है।"[20] रांगेय राघव यह भी मानते हैं कि "प्रगति संसार में सदैव रही है, जीवन में भी, साहित्य में भी।"[21] लेकिन पहले और अब की प्रगतिशीलता में अन्तर है। पहले की अपेक्षा अब की प्रगतिशीलता "सामाजिक तथा राजनैतिक विश्लेषण के आधार"[22] पर निर्धारित की जाती है। यहाँ रांगेय राघव डॉ. रामविलास शर्मा से भिन्न मत व्यक्त नहीं कर रहे

हैं। प्रगति में 'जनकल्याण' और सामाजिक-राजनीतिक दृष्टिकोण का होना दोनों आलोचकों को स्वीकार्य है लेकिन रांगेय राघव 'प्रगतिशीलता' के निर्धारण में मार्क्सीय विचार को ही एकमात्र अन्तिम विचार नहीं मानते। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि "प्रगतिशीलता साहित्य का सृजन करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि लेखक मार्क्सवादी ही हो। वह मानवतावादी भी हो सकता है किन्तु उसे ईमानदार रहना आवश्यक है।"[23]

रांगेय राघव के 'प्रगतिशील' शब्द के दायरे में वे सारी जनोन्मुखी, मानवीय और स्वस्थ परम्पराएँ आ जाती हैं जिन्होंने मानव के विकास में अपना योगदान किया है। वे "भरत के साधारणीकरण के सामाजिक पक्ष"[24] को सीधे प्रगतिशील साहित्य की परम्परा से जोड़ते हैं। रांगेय राघव प्रगतिशील साहित्य में स्वतंत्रता, मानवीयता, जनकल्याण, साहित्यिकता, ईमानदारी, स्थायित्व और समाज को गति प्रदान करने की भावना को महत्व देते हैं लेकिन वे राजनीति, राजनैतिक पार्टियों या किसी गैर साहित्यिक निर्देशों और दबावों से रचित साहित्य को 'प्रगतिशील साहित्य' नहीं मानते। उनकी स्पष्ट धारणा है कि 'प्रगतिशील साहित्य का राजनैतिक और वर्तमान पक्ष' महत्वपूर्ण है किन्तु "प्रगतिशील साहित्य इतने में ही समाप्त नहीं हो जाता। उसका ध्येय जन कल्याण है और मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण चित्रण करते हुए श्रेष्ठ कला को जन्म देना है।"[25] रांगेय राघव के सम्पूर्ण आलोचनात्मक लेखन में यह प्रश्न बार-बार उभरकर सामने आता है कि साहित्य और समाज का कितना और कैसा रिश्ता हो। इससे उनकी असहमति कहीं नहीं है कि लेखक और साहित्य को शोषित, उत्पीड़ित और दलित जनता के प्रति न केवल सहानुभूति रखनी चाहिए अपितु उनकी मुक्ति हेतु सक्रिय प्रयास भी करना चाहिए। लेकिन इस सद्विचार को साहित्य में किस प्रकार से मूर्त होना चाहिए, इस समस्या को लेकर तत्कालीन लेखकों और आलोचकों में गहरे मतभेद है।। राहुल सांकृत्यायन, शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय और रांगेय राघव जहाँ साहित्य और साहित्यकार को राजनीति और पार्टी से अधिक महत्व देते हैं और उन पर किसी प्रकार के बाह्य अंकुश को असह्य मानते हैं, वहीं डॉ० रामविलास शर्मा प्रगतिशीलता के निर्धारण में राजनीति, समाज और साहित्य के सम्बन्धों को

अधिक प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करते हैं। रांगेय राघव लेखक या साहित्यकार की 'स्वेच्छा' नहीं, 'सदिच्छा' और 'जिजीविषा' को वह मूल तत्व मानते हैं जो साहित्य को प्रगतिशील और श्रेष्ठ बनाता है। स्थायित्व का कारण भी वही है। परन्तु डॉ. रामविलास शर्मा अधिक मुखरता और दृढ़ता से वर्ग-विभक्त समाज में लेखकों को पक्षधर होने की सलाह देते हैं।

वास्तव में, 1936 ई० में जब से 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई थी, उससे पहले ही, दुनियाभर के मार्क्सवादी लेखकों के बीच इन प्रश्नों को लेकर घमासान छिड़ा था। उसका असर हिंदी की प्रगतिशील आलोचना पर भी पड़ना स्वाभाविक था।

3. विवादों के बीच प्रगतिशील लेखक संघ

'प्रगतिशील लेखक संघ' अपनी स्थापना के समय से ही ऐसा स्वरूप ग्रहण कर रहा था जिसमें अखिल भारतीय स्तर पर विभिन्न विचारधाराओं के वे सभी लेखक इकट्ठे हो सकें जिनका लेखकीय स्वतंत्रता, भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन और साहित्य की जनोन्मुखता के प्रति गहरा लगाव था। ऐसे लेखकों में मार्क्सवादी तो थे ही गैर-मार्क्सवादी और मानवतावादी भी थे। एक ओर इसे यदि प्रेमचंद का संरक्षण प्राप्त था तो दूसरी ओर इसे रवीन्द्रनाथ टैगोर की भी सहानुभूति मिल रही थी। उर्दू सहित विभिन्न भाषाओं के साहित्यकार भी इससे बड़ी गहराई के साथ जुड़े थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि यह एक ऐसा मंच था जहाँ सारे लेखक बिना किसी भाषिक या साम्प्रदायिक द्वेष के इकट्ठे हो सकते थे।

यद्यपि 'प्रगतिशील लेखक संघ' में विभिन्न विचारधाराओं के लेखक सम्मिलित थे तथापि इसमें मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित लेखकों की सक्रियता अधिक थी। "उनमें से कई विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन से भी जुड़े थे।"[26] जब तक राजनीतिक विवाद तीखे नहीं होते थे तब तक तो 'संघ' में सहमति बनी रहती थी लेकिन "राजनीतिक विवादों के तेज होने के साथ....उनके बीच साहित्यिक विवाद तीव्र होने लगते थे।"[27]

धीरे-धीरे ऐसा भी समय आया जब वे लेखक एक-एक करके बाहर होने लगे जिन्होंने इसे 'एक व्यापक संगठन' समझ कर सम्मिलित होना स्वीकार किया था।

'प्रगतिशील लेखक संघ' ही नहीं भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी भी कई अवसरों पर किसी स्पष्ट निर्णय तक पहुँचने में असफल रही। 1942 ई० अकस्मात् अन्तरर्राष्ट्रीय स्थिति बदलने के साथ ही जब ब्रिटेन का पक्ष-समर्थन करना पड़ा तो कम्युनिस्ट पार्टी और 'प्रगतिशील लेखक संघ' को आलोचनाओं के दौर से गुजरना पड़ा। इस निर्णय से गैर-मार्क्सवादी ही नहीं, कुछ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी और लेखक भी आहत हुए।

दूसरी बार ऐसा ही समय तब आता है जब भारत 1947 ई० में आजाद होता है। इस आजादी को लेकर 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अन्दर उपस्थित मार्क्सवादी लेखकों के बीच गहरे मतभेद उभरे। डॉ० रामविलास शर्मा इस 'आजादी' को वास्तविक आजादी नहीं मानते थे और उनके अनुसार, "सबसे पहले कम्युनिस्ट पार्टी ने इस आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक बर्बादी लाने वाली "आजादी" का पर्दाफाश किया।....आजादी हासिल करना अभी बाकी है।"[28] इसी समय जन आन्दोलन अपने आवेग में थे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी उस निर्णय की ओर पहुँच रही थी जिसके अनुसार सशस्त्र क्रांति द्वारा 'आजादी' पायी जा सकती है। ऐसे ही वातावरण में 1949 ई० में डॉ० रामविलास शर्मा 'प्रगतिशील लेखक संघ' के महामंत्री बनते हैं और इसी के साथ शुरू होता है—घोर विवादों का दौर। डॉ० रामविलास शर्मा ने, शिवदान सिंह चौहान, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, पंत, यशपाल आदि पर कई लेख एक साथ लिखे। उन्हें इन लेखकों की रचनाओं में जनवादी और प्रगतिशील तत्वों की बजाय पुनरुत्थानवाद, यौन कुण्ठा और पूंजीवाद का समर्थन मिला। एक स्वर से डॉ० रामविलास शर्मा ने इन लेखकों को जन विमुख साबित कर दिया। ऐसी स्थिति में इन लेखकों ने डॉ. रामविलास शर्मा पर संकीर्णवाद, एकांगी समाजशास्त्रीयता, 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' और प्रचारवादी साहित्य का पक्षधर होने का आरोप लगाया। यह विवाद का मुद्दा बना कि डॉ० रामविलास शर्मा लेखकों पर महामंत्री के नाते दबाव डालते हैं कि वे मजदूर और किसान आन्दोलन को गति देने वाली रचनाएँ ही करें।

'साहित्य में संयुक्त मोर्चा', (अमृतराय) 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' (रांगेय राघव) और 'साहित्य की परख' (शिवदान सिंह चौहान) पुस्तक में आरोप-प्रत्यारोप अत्यधिक तीखेपन के साथ मौजूद हैं।

वास्तव में शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, अमृतराय सहित दूसरे मार्क्सवादी आलोचक प्रेमचंद की उस धारणा से अधिक सहमति रख रहे थे जिस में 'साहित्य को राजनीति' के आगे चलने वाली मशाल कहा गया है। राजनीति के निर्णयों में फेरबदल के साथ ही साहित्य के निर्णय तुरन्त प्रभावित नहीं होने चाहिए, जैसा कि कर्णसिंह चौहान ने लिखा है कि यह वह दौर था जब चार वर्ष के अन्तराल में ही "कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व और नीतियों"[29] में चार बार परिवर्तन हुआ था। इस संदर्भ में रांगेय राघव का विचार है कि "कम्युनिस्ट पार्टी....और उसके बुद्धिजीवी कुत्सित समाजशास्त्रियों ने भारतीय परिस्थितियों को बिल्कुल नहीं समझा।"[30] परिस्थितियों की इस नासमझी ने ऐसे गलत निर्णयों तक पहुँचने के लिए मजबूर किया जिससे न केवल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन हुआ, वह कमजोर हुई अपितु उससे जुड़े सांस्कृतिक संगठन और आन्दोलन भी बिखर गये। 'प्रगतिशील लेखक संघ' ऐसा ही संगठन था। रांगेय राघव से सहमति रखते हुए सुधी प्रधान ने लिखा है, "एक अर्द्धसामंती समाज की वास्तविकता के स्वरूप की अधूरी समझ के कारण आन्दोलन असफल हुआ। आन्दोलन की गतिविधि का आदर्श भारत से भिन्न प्रकार के समाजों में चलाए गये सांस्कृतिक आन्दोलन को बनाया गया, इसलिए आंशिक और स्थानीय सफलताएँ ही मिलीं।"[31] रांगेय राघव सहित दूसरे मार्क्सवादी आलोचक 'प्रगतिशील लेखक संघ' के महामंत्री डॉ. रामविलास शर्मा के साहित्य विवेक में संकीर्णता की बात कर रहे थे उसी की समीक्षा करते हुए डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "आलोचना में सबसे बड़ा संकीर्णतावाद होगा जनजीवन के यथार्थ का चित्रण करने वाली रचनाओं की उपेक्षा करके आत्मगत क्रान्तिकारी उद्‌गारों को व्यक्त करने वाली रचनाओं को महत्व देना। आलोचना में यह प्रवृत्ति सन्' 50 के आसपास जोर पर थी।"[32]

कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियाँ और 'प्रगतिशील लेखक संघ' का उन नीतियों से प्रभावित होना, महामंत्री पद पर आसीन डॉ. रामविलास शर्मा के आलोचनात्मक

साहित्य विवेक में संकीर्णता का प्रभाव आदि ऐसे कुछ प्रमुख कारण थे जिनकी वजह से केवल गैर-मार्क्सवादी लेखकों में असन्तोष न था बल्कि शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय, रांगेय राघव, प्रकाश चंद्र गुप्त आदि मार्क्सवादी आलोचकों में भी असंतोष था। इसी असन्तोष का परिणाम यह हुआ कि जटिल और प्रतिकूल परिस्थितियों में 'प्रगतिशील लेखक संघ' स्थिर न रह सका, अन्ततः उसका विघटन हो गया।

4. यथार्थवाद और विचारधारा

यथार्थवाद और विचारधारा का प्रश्न मार्क्सवादी आलोचना में केन्द्रीय महत्व रखता है। हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना में भी इस विषय पर काफी विचार-विमर्श हुआ है।

डॉ० रामविलास शर्मा प्रगतिशील साहित्य का प्रारम्भ तभी से मानते हैं, जबसे उसमें यथार्थवाद की प्रमुखता बढ़ी है। हिन्दी में प्रेमचंद के यहाँ यथार्थवाद के दर्शन सन्'30 के आसपास से होते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार, "सन् 30 के लगभग हिन्दी साहित्य में....नये जनवादी यथार्थ का विकास हुआ।'' यह 'नया जनवादी यथार्थवाद' क्या है? उनके अनुसार इसमें साम्राज्यवाद और सामन्ती व्यवस्था से जूझते किसान जीवन के यथार्थ का चित्रण मिलता है। डॉ० रामविलास शर्मा मानते हैं कि एक पूँजीवादी यथार्थ भी होता है जिसमें जन-जीवन का वास्तविक चित्र उभर कर सामने नहीं आता। इस पूँजीवादी यथार्थ के विपरीत जनवादी यथार्थ होता है। हिन्दी में इसके उन्नायक वृन्दावन लाल वर्मा, अमृतलाल नागर, नरेन्द्र शर्मा, गिरिजा कुमार माथुर आदि हैं। इस जनवादी यथार्थ की विशेषता यह है कि इसमें "जनता को ठोस चित्रण''[33] होता है।

जनता शब्द रामविलास शर्मा के यहाँ किसान और मजदूर के सन्दर्भ में ही अधिक आता है। जिस साहित्य में किसानों और मजदूरों का 'ठोस चित्र' नहीं मिलता वह साहित्य 'हवाई लफ्फाजी' से ग्रस्त साहित्य है। डॉ० रामविलास शर्मा की नजर में

वह साहित्य यथार्थवादी नहीं हो सकता जिसमें किसान और मजदूरों का चित्रण नहीं होता–"यह कौन सा यथार्थवाद है? हमारे मित्र कहने के लिए चाहे जो कहें हकीकत यह है कि उन्होंने अमल में मध्यवर्ग को किसानों और मजदूरों से ज्यादा महत्व दिया है।"[34]

किसानों और मजदूरों पर लिखने की बार-बार मांग पक्षधरता और विचारधारा की ओर भी इशारा करती है। एक स्थान पर डॉ. रामविलास शर्मा स्पष्ट घोषणा करते हैं कि "पार्टीजन साहित्यकार बनकर ही हम ऐसे साहित्य का निर्माण कर सकेंगे जो अगली पीढ़ियों के लिए मूल्यवान हो।"[35] वाक्य में आये निश्चयात्मक 'ही' पर गौर किया जा सकता है। ऐसे निश्चयात्मक 'ही' उस समय के डॉ. रामविलास शर्मा के विचारों में स्थान-स्थान पर मिलेंगे। एक स्थान पर वे पुन: कहते हैं, "मजदूर वर्ग का साथ देकर ही बुद्धिजीवी अपने चिन्तन को उपयोगी बना सकता है।"[36]

डॉ० रामविलास शर्मा जब इस प्रकार और इतने आश्वस्त भाव से लेखकों को आलोचना के नाम पर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-शिक्षा दे रहे थे, उस समय उन्हें लग रहा था कि भारत में क्रांति अब सन्निकट ही है। उनके हिसाब से "क्रांति का तूफान आता देखकर वह (लेखक) भले ही शुतुर्मुर्ग की तरह रेत में सिर गढ़ा लें लेकिन इससे वह तूफान को रोक नहीं सकता, न उसकी लपेट से बच सकता।"[37] ऐसे 'क्रांति के तूफान' से थरथराते वातावरण में वे ही प्रगतिशील साहित्यकार कहलायेंगे जो 'जन साधारण का पक्ष' लेंगे। 'जन-साधारण' डॉ. शर्मा के यहाँ किसान और मजदूर के लिए आता है। इस प्रकार डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार, यथार्थवाद 'ठोस चित्रण' से संबद्ध है और यह 'ठोस चित्रण' किसान और मजदूर का होना चाहिए। 'ठोस चित्रण' लेखक के साहित्य में तभी आ सकता है जब वो 'जन-साधारण' अर्थात् किसान और मजदूर का पक्षधर हो। प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य में किसान और मजदूर का 'ठोस चित्रण' नहीं उपलब्ध होता है, उसे क्या कहा जायेगा? इसके लिए डॉ. रामविलास शर्मा पूँजीवादी और प्रतिक्रियावादी विशेषण प्रयोग में लाते हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा के विपरीत शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव आदि मार्क्सवादी आलोचक मजदूर-किसान ही नहीं, 'मानव के सर्वांगीण रूप' के चित्रण को

यथार्थवाद से जोड़ रहे थे। शिवदान सिंह चौहान का विचार है कि, "महान् लेखक यथार्थवादी और अपने समय के आलोचक थे....उन्होंने 'मनुष्य' को ही प्रमाण और प्रतिमान माना, जिससे उसकी सहानुभूतियाँ मानव मात्र तक प्रसारित हुई, विश्व जनीन बनीं।"[38] यहाँ पक्षधरता की वैसी अनिवार्यता नहीं है जैसी डॉ० रामविलास शर्मा के यहाँ है। वास्तव में रांगेय राघव और शिवदान सिंह चौहान एंगेल्स के उस विचार के अधिक निकट हैं जिसमें, "यथार्थवाद का अर्थ तफसील की सच्चाई का, आम परिस्थितियों में आम चरित्रों का सच्चाई भरा पुनर्सृजन है।"[39] कहा गया है।

रांगेय राघव डॉ. रामविलास शर्मा के 'क्रांति के तूफान' को 'अतिक्रांतिवाद'[40] और परिस्थितियों को ठीक से न समझ कर पहले ही समाजवादी यथार्थवाद को हिन्दी में उपस्थित करना, मानते हैं। और यह एक प्रकार का कुत्सित समाजशास्त्र है। रांगेय राघव साहित्य को 'मनुष्य और उसके जीवन के यथार्थ' से जोड़ते हैं और मानते हैं कि "राजनीति जब साहित्य में अपने प्रचारात्मक ढंग से घुसती है तब साहित्य निष्प्राण हो जाता है।"[41] रांगेय राघव यह भी मानते हैं कि अपने आप में मार्क्सवादी विचारधारा वैज्ञानिक और श्रेष्ठ है परन्तु तीन कारणों से वहाँ समस्या उपस्थित होती है–"अ–जीवन का सांगोपांग चित्रण न करना।

आ–केवल राजनीतिक परिस्थितियों को ही सर्वस्व बना देना।

इ–पात्रों को लेखक द्वारा गढ़ने की चेष्टा करना, आदर्श के लिए उसकी काँट-छाँट करना।"[42]

यथार्थवाद, विचारधारा और पक्षधरता के संदर्भ में यहाँ रांगेय राघव ने अत्यंत स्पष्टता से अपने विचार रखे हैं। रांगेय राघव यथार्थवाद को विचारधारा और पक्षधरता से अधिक महत्व देते हैं। वे विचारधारा के आधार पर 'काँट-छाँट' को अस्वीकार करते हैं। वस्तुत: रांगेय राघव लुकाच की भाँति ही साहित्य में यथार्थ चित्रण को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य, "जीवन के यथार्थ को लेकर....भाव के माध्यम से.....जन कल्याण की ओर प्रेरित करके व्यक्ति का उत्तरदायित्व बढ़ाते हुए उसे उदात्त बनाकर व्यापकतम बनाता है और उसमें बुद्धि पक्ष को और भी सचेत और जागरूक बनाता है।"[43]

रांगेय राघव की इससे असहमति नहीं है कि 'आदर्श' या 'विचारधारा' साहित्य में हो लेकिन उनके अनुसार वह तभी प्रशंसनीय होती है जब 'समाज-यथार्थ से अपना पूर्ण तादात्म्य कर' साहित्य में अभिव्यक्त हो।[44] साहित्य में विचारधारा ऊपर-ऊपर उतराती नजर आये तो वह साहित्य को श्रेष्ठ बनाना तो दूर साहित्य भी नहीं रहने देती।

पक्षधरता के प्रश्न पर रांगेय राघव के विचार अत्यंत स्पष्ट है वे 'मानव' के पक्षधर हैं। 'मानव' अर्थात् 'सापेक्ष मानव'।[45] वे उस मानव के पक्षधर हैं जो 'स्वार्थ पालने वाले' मानव से भिन्न है।उनके अनुसार, "स्वार्थ पालने वालों को मैं मानव की संज्ञा नहीं देता, चाहे वे मानव शरीरधारी क्यों न हो।"[46] 'मानव' की जो अवधारणा रांगेय राघव की है वह डॉ. रामविलास शर्मा के 'किसान और मजदूर' को अपने में समाहित तो किए ही है लेकिन केवल 'किसान-मजदूर' नहीं है। वह व्यापक है, परन्तु इतनी व्यापक भी नहीं है कि पूँजीवादी बूर्ज्वा मानववाद की तरह वायवीय हो जाये। यहाँ मानव का अर्थ शोषित, उत्पीड़ित मानव ही है परन्तु वह किसान-मजदूर के साथ-साथ दूसरे वर्ग से भी हो सकता है। यह रांगेय राघव का अपना विशेष मानववाद है।

रांगेय राघव ने यथार्थ चित्रण के प्रसंग में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। माना जाता है कि 'यथार्थ चित्रण' कोई लेखक इसलिए करता है क्योंकि उसके अन्दर 'सत्य की भूख' या 'ईमानदारी' है लेकिन रांगेय राघव जब यह सवाल उठाते हैं कि 'लेखक में वह ईमानदारी क्या है जो उसे सत्य की ओर प्रेरित करती है' तो विचारकों के विचारों की सीमाएँ प्रकट हो जाती हैं। यहीं, रांगेय राघव वह सूत्र प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार भारतीय परम्परा में जो मानवीयता के तत्व 'सदिच्छा' और 'जिजीविषा' मिलते हैं, वही उत्प्रेरित करते हैं लेखक को कि वह सत्य का, यथार्थ का चित्रण करे। 'सदिच्छा' और 'जिजीविषा' के कारण ही कोई लेखक वर्ग स्वार्थ से अपने को मुक्त कर पाता है लेकिन यहाँ यह भी ध्यान रखना होगा कि वह 'सदिच्छा' युग निरपेक्ष नहीं होती है। रांगेय राघव ने युग और व्यक्ति के सवाल को भी उठाया है। वे मानते हैं कि 'युग भूमि तैयार करता है किन्तु व्यक्ति तभी महान होता है जब समाज

की आवश्यकता से तादात्म्य पा जाता है।'' व्यक्ति एवं समाज का तादात्म्य स्वयमेव नहीं हो जाता अपितु 'सदिच्छा' इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

रांगेय राघव के विचारों में 'सदिच्छा' कोई 'हृदय परिवर्तन' या 'इलहाम' जैसी वस्तु नहीं है बल्कि वह "मनुष्य की वह मूल चेतना है जिसको जिजीविषा जीने की इच्छा कहते हैं।''[48] 'सदिच्छा' का पात्र लेखक या कलाकार अधिक होता है क्योंकि वही सर्वाधिक संवेदनशील होता है।

यथार्थवाद, विचारधारा और पक्षधरता के प्रसंग में 'सदिच्छा' की जो अवधारणा रांगेय राघव ने प्रस्तुत की है वह परवर्ती काल में विकसित 'सापेक्ष स्वतंत्रता' के बहुत निकट है। उस दौर में डॉ. रामविलास शर्मा स्वयं चाहे जितना किसान-मजदूर पक्षधरता की बात करते रहे हों परन्तु बाद में 'आस्था और सौन्दर्य' में संकलित विभिन्न निबंधों में इस निर्णय तक पहुँचते हैं कि यथार्थवाद विचारधारा से कहीं अधिक साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए। 'सदिच्छा' की अवधारणा मार्क्सवाद के उस निर्धारणवाद को भी शिथिल करता है जिसमें एक सीमा के बाद मानव यंत्र-सा क़ार्यरत दिखता है।

यथार्थवाद, विचारधारा और पक्षधरता के सन्दर्भ में अमृतराय और यशपाल ने भी लगभग वही विचार व्यक्त किये हैं जो शिवदान सिंह चौहान और रांगेय राघव ने व्यक्त किये हैं। यशपाल ने भी डॉ. रामविलास शर्मा के 'क्रांति के तूफान' में बह जाने की आलोचना की थी। यशपाल ने डॉ. रामविलास शर्मा की ओर इशारा करते हुए लिखा है कि "प्रगतिवादी आलोचकों का तकाज़ा था कि मैं इस देश में आसन्न समाजवादी क्रांति के लिए श्रेणी-संघर्ष की ललकार का ही साहित्य लिखूँ। मध्यवर्ग एवं निम्न मध्यवर्ग के रूढ़िगत संस्कारों, व्यवहारों और उनके जीवन के अन्तर्विरोधों को छोड़कर केवल मजदूर और किसानों के जीवन को प्रतिबिंबित करने के लिए लिखूँ।''[38] इस तरह की मांग तेलंगाना सशस्त्र क्रांति के पहले और बाद में काफी प्रबल थी। लेकिन यशपाल भी साहित्य को नितांत प्रचारवादी और तात्कालिक बना दिए जाने के विरुद्ध थे। वे भी 'मानव जीवन' के उन सारे अंशों को अपने साहित्य का विषय बना रहे थे, जो उत्पीड़न और शोषण का शिकार थे।

5. परम्परा का मूल्यांकन

किसी भी भाषा या साहित्य का अचानक एक झटके के साथ उद्‌भव या विकास नहीं होता है। हिन्दी भाषा और साहित्य के बारे में भी यह सच है। हिन्दी भाषा और साहित्य हजारों वर्षों की भाषिक एवं साहित्यिक परम्पराओं को अपने में समेटता और संजोता प्रगतिशील साहित्य के पड़ाव तक पहुँचा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रगतिशील आन्दोलन के पूर्व सारी परम्पराएँ जनोन्मुखी एवं प्रगतिशील ही नहीं थी, उसमें बहुत सी परम्पराएं ऐसी भी थीं जो पलायनवादी, रीतिवादी, प्रतिक्रियावादी और जनविरोधी थीं। लेकिन जिस लहजे में प्रगतिशील आंदोलन के प्रारम्भ में ही सम्पूर्ण साहित्यिक परम्परा के प्रति ध्वंसात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया, वह अविवेकपूर्ण था। 'प्रगतिशील लेखक संघ' के घोषणा पत्र में ही नहीं, 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' नामक निबंध में भी इस प्रकार का अति-उत्साही मनोभाव दिखता है। ऐसे विचारों से विवाद होना स्वाभाविक था।

परंपरा के मूल्यांकन को लेकर शिवदान सिंह चौहान, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव और यशपाल डॉ. रामविलास शर्मा से अपनी-अपनी तरह से तर्क और बहस में जुटे।

'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' में युवक शिवदान सिंह चौहान के द्वारा अति-उत्साह में छायावाद की काव्य प्रवृत्तियों को 'हिन्दू महासभा' और 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' से भी अधिक खतरनाक घोषित किया गया। हालांकि शिवदान सिंह चौहान ने अपने इस 'अतिवाद' का मार्जन दो वर्ष बाद ही 'छायावादी कवियों की असंतोष भावना' नामक लेख लिखकर कर लिया था, तथापि डॉ. रामविलास शर्मा अपनी चिर-परिचित शैली में शिवदान सिंह चौहान के इसी लेख का उद्धरण देते रहे। आज यह प्रसंग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व रखता है।

शिवदान सिंह चौहान प्रगतिशील आन्दोलन के प्रारम्भिक एवं सक्रिय कार्यकर्त्ताओं में प्रमुख थे। उनकी समझ और सोच से पता चलता है कि प्रगतिशील आन्दोलन प्रारम्भ से ही कई तरह के अतिवादों से घिरा था।

परंपरा के मूल्यांकन और इतिहास के प्रति दृष्टिकोण को लेकर जिन दो लेखकों

और आलोचकों से डॉ० रामविलास शर्मा का सर्वाधिक तीखा विवाद हुआ, वे हैं–राहुल सांकृत्यायन और रांगेय राघव।

हो सकता है यह सत्य हो कि राहुल सांकृत्यायन बौद्ध दर्शन और धर्म के प्रति आग्रही हैं, जैसा कि डॉ. रामविलास शर्मा मानते हैं, लेकिन रोचक बात तो यह है कि स्वयं डॉ. रामविलास शर्मा पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे ऋग्वेद और तुलसी ग्रन्थि से आक्रांत हैं। ऋग्वेद और तुलसी ग्रन्थि ही क्यों, नामवर सिंह ने तो संभावना जाहिर की है कि उनमें "राहुलग्रन्थि भी गहरे तक पैठी है।"[50]

डॉ. रामविलास शर्मा की शिकायत यह है कि राहल सांकृत्यायन "वैदिक ऋषियों का उल्लेख सम्मान के साथ तभी करते हैं, जब उन्हें निषिद्ध मांस-भक्षण का समर्थन करना होता है।"[51] ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों के प्रति सम्मान कम होने से और उनके द्वारा मांस-भक्षण किए जाने का उल्लेख करने से डॉ. रामविलास शर्मा हार्दिक रूप से आहत हो गए हैं। यह आहत होने का भाव भी विचित्र है। इसकी समानता इतिहासकार डी. एन. झा की उस पुस्तक से आहत होने वाले लोगों से की जा सकती है जिसमें प्रतिबंधित कर दिया गया है। वास्तव में डॉ.० रामविलास शर्मा परंपरा के मूल्यांकन के लिए उद्यत तो होते हैं लेकिन यथार्थ और तथ्यों से आहत होकर परंपरा की रक्षा में प्राण-प्रण से जुट जाते हैं। डॉ. नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है कि डॉ० रामविलास शर्मा के लिए परम्परा एक 'पवित्र वन' की तरह हो जाती है और वे उस 'पवित्र वन' की रक्षा में तत्पर ईसाई धर्मराज की तरह हो जाते हैं, जो भी उस 'पवित्र वन' की वास्तविकता को उजागर करेगा और वह वास्तविकता 'पवित्रता' के भाव को निर्मोक कर देगी, वह 'दुराग्रही' और 'प्रतिक्रियावादी' साबित कर दिया जाएगा।[52] ठीक यही राहुल सांकृत्यायन के साथ किया गया।

राहुल सांकृत्यायन और रांगेय राघव जब हड़प्पा सभ्यता से भारतीय इतिहास की शुरूआत करते हैं और आर्यों के आक्रमण, वर्ण व्यवस्था, शूद्रों के प्रति विभिन्न प्रकार के अत्याचार आदि का वर्णन करते हैं तो डॉ. रामविलास शर्मा तर्क संगत प्रतिरोध करने की बजाय उन्हें 'नस्लवादी', 'पुनरुत्थानवादी', 'दुराग्रही', 'पलायनवादी' आदि साबित करने लगते हैं।

राहुल सांकृत्यायन 'वोल्गा से गंगा' में वाल्मीकि और कालिदास के बारे में यह वाक्य लिखते हैं, "वाल्मीकि ने अयोध्या के नाम का प्रचार किया, जब उन्होंने अपनी रामायण को पुष्यमित्र या उसके शुंग वंश के शासन काल में लिखा। इसमें तो शक ही नहीं कि अश्वघोष ने वाल्मीकि के मधुर काव्य का रसास्वादन किया था। कोई ताज्जुब नहीं यदि वाल्मीकि शुंग वंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के।"[53] इसी के आगे वे यह भी अनुमान व्यक्त करते हैं कि वाल्मीकि ने पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की होगी जैसे कि कालिदास ने 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' में पिता-पुत्र, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमार गुप्त की की है।

डॉ० रामविलास शर्मा इस संभावना को देखकर उस पर गंभीरता पूर्वक विचार करने की बजाए राहुल सांकृत्यायन पर यह आरोप लगाते हैं, "सुपर्ण यौधेय में कालिदास को गुप्त सम्राटों का चाटुकार कवि दिखलाया गया है।"[54]

इस प्रकार के निष्कर्ष से प्रदीप सक्सेना ने 'पहल' के 'मार्क्सवादी आलोचना विशेष' में डॉ. रामविलास शर्मा पर 'अकादमिक बेईमानी' और 'दुराग्रह' का आरोप लगाया है। वास्तव में यह आरोप तथ्यरहित भी नहीं है। डॉ. रामविलास शर्मा तथ्यों के साथ तोड़-मरोड़ के लिए हिन्दी के दूसरे आलोचकों की आलोचना के पात्र बनते रहे हैं।"[55]

डॉ. रामविलास शर्मा की इस पद्धति का एक उदाहरण 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' और 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' नामक पुस्तकों में संकलित लेखों में उपलब्ध है। परवर्ती पुस्तक में वही लेख संकलित हैं जो 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' में हैं लेकिन "कुछ संक्षिप्त रूप में।"[56] कोई भी पाठक जब दोनों पुस्तकों में संकलित निबंधों को ध्यान से पढ़ता है तो पाता है कि जिसे, "कुछ संक्षिप्त रूप में" संशोधित कहा जा रहा है वह एक प्रकार की बचाव और स्वौचित्य स्थापन के लिए की गई गैर-अकादमिक कार्यवाही है। वस्तुत: इस प्रकार के व्यवहार का सम्बन्ध सिर्फ अकादमिक ईमानदारी से ही नहीं जुड़ा है बल्कि यह उचित-अनुचित निष्कर्ष निकालने और उसके असिद्ध होने पर उसे बचाने की तत्परता से भी जुड़ा है। डॉ. रामविलास शर्मा के बहुत से निष्कर्षों के केंचुल इतिहास की धारा ने उतार दिये हैं उनकी रक्षा का प्रयास दयनीय प्रतीत होता है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने रांगेय राघव पर राहुल सांकृत्यायन से भी अधिक तीखेपन के साथ प्रहार किये हैं। उन तर्कों की जाँच तो की ही जायेगी लेकिन उससे पहले अमृतराय और राजेन्द्र यादव के 'परशुधारी रामविलास शर्मा' के रूपक को याद कर लेना अप्रासंगिक न होगा। वास्तव में रामविलास शर्मा 1949 से लेकर 1950-55 तक ऐसी ही मुद्रा में थे।

रांगेय राघव के परंपरा और इतिहास के प्रति दृष्टिकोण को डॉ. रामविलास शर्मा 'अवैज्ञानिक', 'पलायनवादी' और अक्सर 'पुनरुत्थानवादी' मानते हैं। इतना ही नहीं, 'भाग्यवाद' और 'पराजयवाद' भी उन्होंने ढूंढ़ निकाला है। रांगेय राघव को पुनरुत्थानवादी वे इसलिए मानते हैं क्योंकि उन्होंने, "प्राचीन समाज में दासप्रथा और सामन्ती शोषण को भूलकर रत्न, वैभव, नारी सौंदर्य के चित्र"[57] प्रस्तुत किये हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने ये विचार 1946 ई. के बाद व्यक्त किये थे। 1948 ई. में 'मुर्दों का टीला' प्रकाशित हो चुका था। 'मुर्दों का टीला' के प्रथम पृष्ठ पर ही यह वाक्य लिखे मिलते हैं, "श्रेष्ठि मणिबन्ध के ये नये क्रीतदास थे....उसकी दृष्टि में वे मनुष्य की एक कुरूप आकृति मात्र थे, उनके साथ मनुष्य का-सा व्यवहार करना अपना अपमान करना था।"[58] दास प्रथा और सामन्ती-शोषण का एक दृश्य और देखा जा सकता है, "काले दासों की एक भीड़ पीछे-पीछे भाग रही थी। जैसे वे बैल थे। जब थक जाते थे तो दम तोड़ते-से श्वास खींचते से हांफने से लगते थे और उसके बाद फिर उसी प्रकार दौड़ने लगते थे।"[59] दासों के साथ नागरिकों का कितना क्रूर व्यवहार था इसे भी देखा जा सकता है, "ऐ, ऐ, एक सम्भ्रान्त वयस्क ने अपने ऊपर झुके दास के मुँह पर घूँसा मारकर कहा, देखता नहीं। तू दास होकर यहाँ नागरिकों में क्यों आया है।"[60] डॉ. रामविलास शर्मा को ये और ऐसे ही पृष्ठ-दर-पृष्ठ पर चित्रित प्रसंग देखने को नहीं मिले। कुछ कविताओं के चुने हुए अंशों को ही उन्होंने रांगेय राघव को 'पुनरुत्थानवादी' सिद्ध करने के लिए तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है।

परम्परा के प्रति रांगेय राघव के दृष्टिकोण को 'पुनरुत्थानवादी' साबित करने के लिए डॉ. रामविलास शर्मा 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) और 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' (1953) के चुनिन्दा अंशों को बार-बार उद्धृत किया

है। लेकिन, इन पुस्तकों में प्राप्त 'अन्तर्भुक्ति' और 'महामानव समुद्र' की अवधारणाओं को नजर-अन्दाज कर दिया गया है। अनायास यह हुआ है, या साशय!

रांगेय राघव अपने समय तक हुए शोधों और खोजों के आधार पर एक इतिहास निर्मित करते हैं। यह रोचक तथ्य है कि उनके विचार कई दशकों बाद भी पूरी तरह से असंगत नहीं साबित हुए हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. रामशरण शर्मा भी मानते हैं, "अब तक जो पुरातात्विक साक्ष्य मिले हैं, उनसे तो यही सिद्ध होता है कि हड़प्पा वैदिक जनों की सभ्यता नहीं थी।....सिर्फ़ साहित्यिक साक्ष्यों को आधार बनाकर इतिहास नहीं लिखा जा सकता।"[61] यह आश्चर्य का विषय हो सकता है लेकिन यह सत्य है कि डॉ. रामशरण शर्मा से बहुत पहले रांगेय राघव ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये थे। इन्हीं विचारों को डॉ. रामविलास शर्मा 'अनार्य पुनरुत्थानवाद' से जोड़ते हैं। परन्तु डॉ० रामविलास शर्मा ने बाद में जो 'चिन्तन' प्रस्तुत किया है, वह न तो इतिहासकारों के बीच तार्किक माना जा रहा है और न ही साहित्यकारों के मध्य। डॉ. नामवर सिंह के विचार इस संदर्भ में दृष्टव्य है, "रामविलास शर्मा जी की खूबी यह है कि अक्सर वे इतिहास भी पुराण की तरह लिखते हैं। सामान्य पाठक के लिए यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि पुराण कहाँ खत्म होता है और इतिहास कहाँ से शुरू होता है।"[62] रांगेय राघव 'परम्परा और इतिहास' को साधते हैं उसके वशीभूत नहीं होते। न ही वे उसे 'पवित्र' मानकर उसकी 'रक्षा' में खडगहस्त रहते हैं।

वास्तव में, डॉ. रामविलास शर्मा, रांगेय राघव के 'पुनरुत्थानवाद' और 'प्राचीनवाद' से उतने असंतुष्ट नहीं थे जितने कि रांगेय राघव की ब्राह्मण-विरोध की भावना से। परम्परा के मूल्यांकन में डॉ. रामविलास शर्मा और दूसरे मार्क्सवादी आलोचकों के बीच यह गहरा अन्तर है कि जहाँ दूसरे आलोचक वर्ग के साथ वर्ण को भारत की एक महत्वपूर्ण सामाजिक सच्चाई होना नहीं भूलते, वहीं डॉ. रामविलास शर्मा वर्ण से कतराकर निकल जाते हैं। रांगेय राघव, यशपाल और राहुल सांकृत्यायन इससे कतराते नहीं है, इसका विश्लेषण करते हैं। रांगेय राघव ने लिखा भी है, "ब्राह्मणवाद का प्रश्न मेरे लिए अनेक कारणों से विशेष महत्व रखता है क्योंकि मैं इस विषय पर अन्यों से अलग बात कहता हूँ।"[63] इस विचार को कोई व्यक्तिगत कहकर टाल जाये, ऐसा अनुमान करके रांगेय राघव ने आगाह किया है कि ब्राह्मणवाद का प्रश्न

"सैद्धांतिक संघर्षपरक है और इसलिए हिन्दी साहित्य के लिए भी विशेष महत्व रखता है।"[64] यह रांगेय राघव की दूर दृष्टि ही कही जायेगी कि वे 1955ई० में ही साहित्य में उस वर्चस्व के खिलाफ उठ खड़े हुए थे जिसके विरुद्ध अब दलित साहित्य मुहिम छेड़े है। ब्राह्मणवाद का मुखर विरोध रांगेय राघव और यशपाल दोनों ने तुलसीदास के मूल्यांकन के माध्यम से किया है।

रांगेय राघव के चिन्तन में भक्तिकाल और उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बार-बार उभरती है। 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में ही उन्होंने तुलसीदास के बारे में लिखा था कि "तुलसीदास एक प्रतिक्रिया बनकर आये थे।"[65] गोरखनाथ पर शोध करते समय भी वे यह रेखांकित करते हैं कि "तुलसीदास....वास्तव में उच्च हिन्दू जातियों की विजय के प्रतीक हैं।"[66]

तुलसीदास के बारे में रांगेय राघव के विचार उत्तरोत्तर अधिक मुखर और स्पष्ट होते जा रहे थे। 'भारतीय चिंतन' (1949) में वे अब तीखेपन के साथ कहते हैं, "तुलसी ने न केवल वेद को लिया वरन् उस रूढ़िवादी ब्राह्मणवाद को लिए जिसने पुराणों की रचना की थी।"[67] इन स्थापनाओं के साथ-साथ रांगेय राघव तुलसीदास को 'वर्णाश्रम'[68] को पुनर्स्थापित करने वाला और 'सामंतवाद का उज्ज्वल प्रतीक' भी कहा है। मुक्तिबोध ने जिस सगुण-निर्गुण द्वंद्व की चर्चा अपने एक लेख में की है उसकी भी झलक रांगेय राघव के यहाँ मिलती है।

तुलसीदास की सामाजिक दृष्टि के बारे में रांगेय राघव के जहाँ ये विचार हैं वहीं तुलसी की काव्य क्षमता और प्रतिभा के बारे में इस प्रकार के सकारात्मक विचार भी मिलते हैं, "तुलसी को मानव स्वभाव का गहरा ज्ञान था।"[69] यही नहीं, "तुलसी ने जन-जीवन की जगह-जगह झाँकी दी है जो अत्यन्त सफल है।"[70] तुलसी की 'काव्य-शक्ति' और उनके 'महान कलाकार' होने को लेकर रांगेय राघव के मन में किसी प्रकार का द्वंद्व नहीं है।

डॉ० रामविलास शर्मा के अतिरिक्त किसी और आलोचक को उस समय इन विचारों से विशेष असहमति नहीं थी। तुलसी के बारे में यशपाल के विचार रांगेय राघव से मिलते-जुलते हैं। 'वर्णव्यवस्था का समर्थन', 'ब्राह्मण की श्रेष्ठता और स्वामी वर्ग के अधिकारों का समर्थन', 'भक्ति मार्ग में केवल सवर्ण हिंदू जनता की सांस्कृतिक

एकता' आदि कुछ ऐसी न्यूनताएं हैं जिन्हें यशपाल ने तुलसी साहित्य में रेखांकित किया है। तुलसी की 'कलात्मक सामर्थ्य' को यशपाल भी स्वीकार करते हैं।[71]

तुलसीदास को ब्राह्मणवादी कहे जाने पर डॉ. रामविलास शर्मा आहत-से हो उठते हैं। 'आहत' होने की बात इसलिए कही जा रही है क्योंकि उनके लेखों में तुलसी के पक्ष में जो तर्क दिये गये हैं उनका स्वर रक्षात्मक होते हुए भी दुराग्रहपूर्ण है। वे ऐसे प्रत्यारोप भी करते हैं जिनका आलोचना की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। डॉ. रामविलास शर्मा को लगता है कि जैसे तुलसी के माध्यम से सप्रयोजन एक वर्ग उन पर आक्रमण कर रहा है। इसी आशंका को प्रदर्शित करता यह वाक्य देखा जा सकता है, "यशपाल, रांगेय राघव, राहुल सम्प्रदाय को व्यक्त जगत की अस्वीकृति.....ही परम कलात्मक तत्व प्रतीत होता है।"[72] डॉ. रामविलास शर्मा इस बहस-मुबाहिसे में 'राहुल सम्प्रदाय' की कल्पना कर बैठते हैं और जब ऐसी स्थिति हो तो खडग-हस्त रक्षात्मक मुद्रा ग्रहण कर लेना स्वभाविक ही है। इस मुद्रा में तर्क का संबल छूट जाये तो भी डंटे रहने का आग्रह बना रहता है।

डॉ० रामविलास शर्मा 'राहुल सम्प्रदाय' से लड़ने के लिए सर्वप्रथम राहुल पर प्रहार करते हैं और प्रहार के लिए वे बार-बार वही तथ्य और तर्क अपने ढंग से इस्तेमाल करते हैं जिसके बारे में पहले ही कहा जा चुका है कि उसमें 'चाटुकार' शब्द डॉ. रामविलास शर्मा का अपना है। 'साहित्य की परम्परा' और 'मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन' दोनों लेखों में वे उन्हीं तथ्यों को तर्कों के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिनमें राहुल सांकृत्यायन ने वाल्मीकि और कालिदास को शुंग वंश और विक्रमादित्य के आश्रित कवि होने की सम्भावना व्यक्त की है। इन अंशों को उद्धृत करके डॉ. रामविलास शर्मा बार-बार वही निष्कर्ष निकालते हैं जिसका राहुल सांकृत्यायन के विचारों से कोई सम्बंध नहीं। राहुल सांकृत्यायन ने संभावना व्यक्त की है। उन्होंने कहीं यह नहीं लिखा है कि वाल्मीकि और कालिदास शुंग वंश या विक्रमादित्य के 'चाटुकार' कवि थे।

राहुल सांकृत्यायन पर इस प्रकार का तथ्यहीन आरोप लगाने के बाद डॉ. रामविलास शर्मा 'राहुल पंथानुगामी श्री रांगेय राघव' की खबर लेते हैं। वे तुलसी के बारे में रांगेय राघव के तर्कों का सीधे-सीधे खण्डन न करते हुए सर्वप्रथम रांगेय राघव

को 'नस्लवादी' और 'द्रविड़दंभ' से अभिमानित साबित करने में अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। 'साहित्य की परंपरा' लेख में जब वे वातावरण निर्मित कर लेते हैं अर्थात् राहुल सांकृत्यायन और रांगेय राघव को नस्लवादी और जातीय परंपरा का ध्वंसक साबित कर लेते हैं, तब मूल विषय पर लौटते हैं। वे लिखते हैं, "हिन्दी भाषी जंनता का सबसे लोकप्रिय ग्रंथ ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा करने (?) के लिए लिखा गया है।"[73] इस तर्क में 'लोकप्रिय ग्रंथ' होना जैसे ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध होने की घोषणा करता है। वास्तव में धार्मिक कारणों से भी जनता के बीच लोकप्रियता प्राप्त की जा सकती है जो 'रामचरित मानस' को प्राप्त है इससे उसके ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा करने में बाधा नहीं पहुँचती है।

इसी प्रकार आलोचना की परंपरा पर दृष्टिपात करते हुए रांगेय राघव ने आचार्य शुक्ल के इतिहास में 'शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण' पाया है तो उसमें कुछ अनुचित नहीं है। 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका से तीन पंक्तियाँ उद्धृत कर देने से 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्राप्त होने वाली कबीर के प्रति उपेक्षा और इतिहास को हिन्दू-मुसलमान की क्रिया-प्रतिक्रिया की दृष्टि से देखना तर्कसंगत नहीं हो जायेगा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आलोचनात्मक विवेक की इस सीमा की ओर आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी से लेकर डॉ. धर्मवीर तक विभिन्न विद्वानों आलोचकों ने बार-बार अंगुलि-निर्देश किया है।

'साहित्य के अपार सौंदर्य', 'रामचरित मानस' के 'अमर महाकाव्य' होने और तुलसी में प्रतिभा होने से न तो रांगेय राघव को आपत्ति है, न यशपाल को। लेकिन काव्यगत सौन्दर्य के आधार पर या तुलसी की प्रतिभा को केन्द्र में रखकर यह नहीं साबित किया जा सकता कि तुलसीदास के यहाँ ब्राह्मणवाद का समर्थन नहीं है।

इसी प्रकार 'जन-भाषा के सौंदर्य' के तर्क से तुलसीदास को महान साबित करना भी तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। रांगेय राघव ने ठीक ही लिखा है कि तुलसीदास से पहले ही जायसी, कबीर और सूरदास ने 'जनभाषा के सौंदर्य' को पहचान लिया था।

परम्परा के मूल्यांकन में डॉ. रामविलास शर्मा और रांगेय राघव के विचारों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि रांगेय राघव अधिक संतुलित और आधुनिक दृष्टिकोण रखते हैं।

6. भाषा की समस्या

भारत एक बहुजातीय और बहुभाषी देश अत्यंत प्राचीन काल से रहा है। एक ओर जहाँ यह इसकी विशेषता ठहरती है वहीं दूसरी ओर यह कई प्रकार की समस्याएँ भी पैदा करती है। स्वाधीनता आंदोलन से पूर्व, भारतेन्दु युग में ही 'निजभाषा उन्नति अहै' का नारा दिया जाने लगा था। किसी भी समाज के लिए अपनी भाषा के प्रति इस प्रकार की भावना रखना अनुचित नहीं है लेकिन अपनी भाषा के सम्मान और गर्व में किसी भी समाज को दूसरी भाषा को अपमानित करने का अधिकार नहीं है। भारतेन्दु ने 'निज भाषा उन्नति अहै' से हिन्दी को आंदोलन से जोड़ने का प्रयास किया। निस्संदेह यह श्लाघ्य प्रयत्न था परन्तु उर्दू को 'वेश्याओं की भाषा' कहना किसी भी रूप से तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। यह साम्प्रदायिक भावना का परिणाम माना जा सकता है। परवर्ती काल में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से हिन्दी-उर्दू को देखने की प्रवृत्ति और भी प्रबल हुई।

आजादी से पूर्व और आज़ादी के बाद हिन्दी-उर्दू की समस्या को लेकर दंगे तक हो चुके थे। इसी समस्या में हिन्दी और तमिल की समस्या भी जुड़ जाती है। इन समस्याओं से प्रगतिशील आलोचक भी दो-चार हुए।

भाषा की समस्या को लेकर राहुल सांकृत्यायन, शिवदान सिंह चौहान और डॉ० रामविलास शर्मा में सीधी बहस हुई। रांगेय राघव ने भी इस बहस में हिस्सा लिया था लेकिन, वे प्रत्यक्ष और सक्रिय भागीदारी नहीं कह रहे थे।

भाषा की समस्या को लेकर विवाद की शुरूआत राहुल सांकृत्यायन के लेख 'मातृभाषाओं का प्रश्न' से होती है। 1944 ई. में 'हंस' में यह लेख छपा था।[74] इस लेख में राहुल सांकृत्यायन ने 'बोलियों' और उसके साहित्य को न केवल महत्व दिये जाने की चर्चा की है अपितु 'बोलियों' के आधार पर ही प्रान्तों के निर्माण का भी प्रस्ताव रखा है। वे इस तर्क को आगे भी बढ़ाते रहे।

राहुल सांकृत्यायन ने यह भी विचार रखा कि जन-शिक्षा मातृभाषाओं में ही होनी चाहिए। उन्होंने प्रश्न किया, "आखिर यह कौन-सी बुद्धिमानी है कि मैथिली, अवधी, भोजपुरी और ब्रजभाषा जैसी बोलियों को शिक्षा का माध्यम बनने से रोका

जाये।''[75]

मातृभाषाओं का प्रश्न हिन्दी के महत्व से जुड़ जाता है। कई प्रकार के सवाल भी उठाये जाते हैं। राहुल सांकृत्यायन की स्पष्ट मान्यता है कि "मातृभाषानुसारी प्रान्तों में हिन्दी को कोई हानि नहीं।''[76]

मातृभाषा के सवाल पर राहुल सांकृत्यायन के तर्क अर्थपूर्ण हैं परन्तु 'हिन्दी उर्दू-विवाद' के प्रसंग में वे असंतुलित नज़र आते हैं, "सारे भारत संघ की भाषा.... हिन्दुस्तानी हो'' यह राहुल सांकृत्यायन को मान्य नहीं, साथ ही, गाँधीवादियों के 'हिन्दुस्तानी' के 'स्वप्न' से भी वे सहमत नहीं हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि "नागरी लिपि में लिखी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही भारत संघ की एक मात्र भाषा हो सकती है।''[77] तथ्यात्मक दृष्टि से यह याद रखना होगा कि 'हिन्दी-उर्दू विवाद' में राहुल के विचारों के कारण उन्हें भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से निष्कासित कर दिया गया था।

'मातृभाषाओं का प्रश्न' नामक लेख के थोड़े ही दिन बाद शिवदान सिंह चौहान का लेख 'जनपदीय भाषाओं का प्रश्न' प्रकाशित होता है। शिवदान सिंह चौहान के अनुसार प्रकाशित होने से पूर्व इस लेख का पाठ "रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, अमृतराय सहित बीस-पच्चीस प्रमुख प्रगतिशील लेखकों की उपस्थिति में यशपाल-निवास में किया गया था।''[78] लेख में शिवदान सिंह चौहान ने जिन बातों पर ज़ोर दिया था, वे थीं–"जन भाषा, जन शिक्षा और जन-साहित्य और संस्कृति।''[79]

राहुल सांकृत्यायन के ही तर्क को आगे बढ़ाते हुए शिवदान सिंह चौहान ने माना कि "हिन्दी किसी एक भाषा का नाम नहीं है, बल्कि शौरसेनी और अर्द्धमागधी अपभ्रंशों से आठवीं-दसवीं शताब्दी के बीच विकसित हुई जनपदीय भाषाओं के समूह का नाम है।''[80] वास्तव में, राहुल सांकृत्यायन और शिवदान सिंह चौहान रूस की बहुभाषिकता और उसके समाधान हेतु प्रस्तुत स्टालिन के विचारों से गहरे रूप से प्रभावित प्रतीत होते हैं। लेकिन इस संदर्भ में रामविलास शर्मा के तर्कों की अनदेखी नहीं की जा सकती। वास्तव में, प्रगतिशील आलोचना के उस काल की यह विशेषता थी कि बहस और उसका विषय कितना भी गम्भीर और उसके परिणाम कितने भी दूरगामी क्यों न हों, उस तरह से गंभीरता से न उठकर परस्पर छींटाकशी तक पहुँच ही जाया

करती थी।

भाषा के प्रश्न पर ही, शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है कि रामविलास शर्मा के असहमत होने का कारण 'व्यक्तिगत' भी हो सकता था।[81] इसी प्रकार जब डॉ. रामविलास शर्मा जनपदीय भाषाओं के आधार पर प्रान्त बनाये जाने का विरोध इसलिए करते हैं कि "राष्ट्रभाषा की समस्या विशुद्ध भाषा-विज्ञान की समस्या न होकर बहुजातीय राष्ट्र के गठन और विकास की ऐतिहासिक-राजनीतिक समस्या बन जाती है।"[82] तब शिवदान सिंह चौहान इसे "आजादी के बाद कम्युनिस्ट पार्टी के उग्रपंथी रूझान के दौरान 'एक वृहत्तर हिन्दी राष्ट्र' (अर्थात् 'हिन्दू' राष्ट्र-राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघी?) कल्पना में बहकर तथाकथित हिन्दी क्षेत्र के करोड़ों जन साधारण की मूल मातृभाषाओं को बिना किसी वैज्ञानिक तर्क या ऐतिहासिक आधार के फतवा जारी" करना मानते हैं।[83]

यहाँ देखा जा सकता है कि भाषा की समस्या को लेकर कितने तीखे आरोप-प्रत्यारोप लगाये जा रहे थे। शिवदान सिंह चौहान रामविलास शर्मा को 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' के विचारों से जोड़ रहे थे तो रामविलास शर्मा राहुल और उनके समान मत रखने वाले विचारकों के तर्कों में साम्प्रदायिक भावना ही नहीं, देश का विघटन करने की भावना भी देख रहे थे।

राहुल सांकृत्यायन और शिवदान सिंह चौहान के विपरीत रामविलास शर्मा की तीन बुनियादी मान्यताएँ इस प्रकार हैं, "पहली यह कि अंग्रेजी भारत की सभी भाषाओं पर साम्राज्यवादियों द्वारा लादी हुई भाषा है और उसका प्रभुत्व जल्दी से जल्दी खत्म होना चाहिए। दूसरी यह कि हिन्दी-उर्दू मूलत: एक ही भाषा है और आगे चलकर दोनों घुल-मिलकर एक होंगी। बोलचाल की भाषा के आधार पर एक ही साहित्यिक भाषा का विकास होगा। तीसरी यह कि बुन्देली, ब्रज, अवधी आदि हिन्दी की बोलियां हैं, स्वतंत्र भाषाएँ नहीं।"[84]

इन तीनों मान्यताओं में से पहली मान्यता से न तो राहुल सांकृत्यायन और शिवदान सिंह चौहान की असहमति है और न ही रांगेय राघव की। लेकिन दूसरी और तीसरी मान्यता से राहुल और शिवदान सिंह चौहान की असहमति है। हिन्दी-उर्दू के

प्रश्न पर डॉ. रामविलास शर्मा जहाँ 'हिन्दुस्तानी' के अधिक निकट है, वहीं राहुल सांकृत्यायन 'नागरी लिपि में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' को अधिक महत्व देते हैं। इसी प्रकार 'हिन्दी जाति' के सवाल पर राहुल और शिवदान सिंह चौहान पूरी तरह असहमत हैं। दोनों ही, मातृभाषाओं को स्वतंत्र और 'हिन्दी' के बराबर दर्जा दिये जाने के पक्षधर हैं, न कि 'बोली' बनाये जाने के। यह गौर करने की बात कि भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से राहुल सांकृत्यायन और शिवदान सिंह चौहान भले ही अधिक तर्क संगत हों, परन्तु डॉ० रामविलास शर्मा के 'राष्ट्रीय एकता' का तर्क भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। 'राष्ट्रीय एकता' के तर्क को सिर्फ़ 'भावुकता' या 'हिन्दू राष्ट्र' के प्रति अतार्किक मोह समझना उचित नहीं जान पड़ता। रामविलास शर्मा जिस समय ऐसे तर्क दे रहे थे, वह समय कितना विक्षुब्ध था, इसे 'भारत की भाषा समस्या' में संकलित 'भाषा-और प्रान्तीयता' नामक लेख में देखा जा सकता है। 1955 ई० में लिखे गये इस लेख में, 'हिन्दुस्तान के भविष्य' के बारे में सवाल पूछे जाने पर एक व्यक्ति 'गृह युद्ध होने' की सम्भावना व्यक्त करता है। और यह 'गृह युद्ध' भाषाओं को आधार बनाकर लड़ा जाने वाला था। रामविलास शर्मा के तर्कों में समय की नाजुकी विद्यमान है। बाद में, रामविलास शर्मा ने 'हिन्दी जाति' की अवधारणा और 'भारत की समस्या' पर और भी गम्भीरता और विस्तार से विचार किया है। भाषा के सवाल पर वे सर्वाधिक संतुलित तर्क रख सके।

भाषा-समस्या पर जहाँ एक ओर दो छोर अपनी-अपनी ओर तने थे वहीं रांगेय राघव की अपनी स्थिति अत्यन्त संतुलित दिखती है। वे राहुल सांकृत्यायन और शिवदान सिंह चौहान से सहमति व्यक्त करते हैं कि "भाषाओं के अनुसार विभिन्न प्रान्तों'' के बनने से "भारत की एकता'' खण्डित नहीं होगी। एकता खण्डित करने में "पूंजीवादी नेतृत्व की भूमिका होती है, जन नेतृत्व तो सह अस्तित्व में विश्वास करता है।''[85] रांगेय राघव 'भारतीय संघ' की भाषा 'हिन्दी' बनाये जाने के पीछे 'हिन्दी बोलने वालों की व्यापकता' का तर्क देते हैं। लेकिन वे 'हिन्दी' को आरोपित करने के पक्ष में नहीं हैं। वे सम्भावना व्यक्त करते हैं कि वह "विचार-विनिमय की भाषा बन सकती है।''[86] इसमें अहम या श्रेष्ठ होने की भावना नहीं झलकती।

रांगेय राघव मानते हैं कि 'हिन्दी-उर्दू' की समस्या को 'वैज्ञानिक ढंग' से नहीं देखा गया। वे यह भी रेखांकित करते हैं कि पाकिस्तान के निर्माण ने 'हिन्दी-उर्दू समस्या' को और भी उग्रता प्रदान की है। लेकिन अत्यन्त तर्कसंगत ढंग से रांगेय राघव इस भ्रम का निवारण करते हैं कि 'पाकिस्तान में उर्दू ही' बोली जाती है। जो लोग 'धर्म' को भाषा की एकता के साथ जोड़ते हैं, वे या तो स्वयं भ्रमित हैं या भ्रमपूर्ण स्थिति में, जानबूझकर रखना चाहते हैं, "केवल धर्म का एकत्व होने से यह चारों प्रान्त वास्तव में ऐसे नहीं हो जाते कि उनकी भाषा भी एक ही हो जाये।"[87]

रांगेय राघव हिन्दी-उर्दू विवाद को सतही दृष्टि से नहीं देखते। वे उसके आर्थिक और राजनीतिक पक्षों पर अंगुली रखते हैं, "वस्तुतः यह उच्चवर्गीय हिन्दुओं और उच्चवर्गीय मुस्लिमों का आन्तरिक विरोध था। दोनों अपना अपना अधिकार रखना चाहते हैं।"[88]

उर्दू और हिन्दी के झगड़े में 'लिपि' और 'भाषा-भेद' का तर्क दिया जाता रहा है। रांगेय राघव इन दोनों ही भेदों को भ्रम मानते हैं, "दो लिपियों के होने से भाषा भिन्न नहीं हो जाती। दूसरे हिन्दी-उर्दू की क्रियाओं में भेद नहीं, शब्दावली में कुछ भेद हैं।"[89] वास्तव में, 'हिन्दी-उर्दू का विवाद' भाषा वैज्ञानिक उतना नहीं था जितना 'वर्चस्व' और 'अधिकार' बनाये रखने की जद्दोजहद था। 'भाषा की समस्या' पर रांगेय राघव के विचार अत्यन्त निष्पक्ष और असाम्प्रदायिक हैं। वे भाषा विवाद को न तो 'धर्म' से जोड़कर देखते हैं और न ही बहु प्रचलित भ्रमों से। वे हिन्दी-उर्दू विवाद को ही नहीं, हिन्दी-तमिल और पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के सवाल पर भी वैज्ञानिक, जनतांत्रिक और निष्पक्ष राय रखते हैं। तत्कालीन वातावरण में यह एक साहसपूर्ण कार्य था।

7. कुछ और विवाद

प्रमुख विवादों के साथ-साथ कुछ ऐसे भी विवाद थे जो कभी तो केन्द्रीयता प्राप्त कर लेते थे और कभी हाशिये पर सरक जाते थे। ऐसे विवादों में 'साहित्य में संयुक्त

मोर्चे का विवाद' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज और राजनीति की वास्तविक व्याख्या, कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियां और नेतृत्व, गाँधी और पंत के मूल्यांकन से जुड़े विवाद भी इसी प्रकार के थे।

साहित्य में संयुक्त मोर्चे के प्रश्न पर अमृतराय ने विशेष रूप से सक्रिय भागीदारी निभायी थी। 'हंस' के माध्यम से उन्होंने ही इस सवाल को उस समय के सभी प्रगतिशील आलोचकों के मध्य बहस का विषय बनाया। 'संयुक्त मोर्चे' से जुड़े विवाद की चर्चा की जाये, इससे पहले प्रो० मैनेजर पाण्डेय के एक महत्वपूर्ण कथन की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक होगा। प्रो० मैनेजर पाण्डेय ने इस रोचक तथ्य की ओर इशारा किया है कि, "जब आरम्भिक दिनों में प्रगतिशील लेखक संघ संयुक्त मोर्चे के रूप में काम कर रहा था तब साहित्य में संयुक्त मोर्चे पर बहस नहीं हुई लेकिन जब वह संयुक्त मोर्चा न रहा तब संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए खूब बहस चली।"[90] संयुक्त मोर्चे की बहस की शुरूआत 1950 ई० के आस-पास उस समय होती है जब डॉ० राम विलास शर्मा, "कुओ-मोजो के निर्देशों का हवाला देते हुए... प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन को और भी व्यापक स्तर पर फैलाने और संगठित करने के ख़याल से 'साहित्य में संयुक्त मोर्चे के कुछ सवाल' शीर्षक निबन्ध लिखते हैं।[91] इस बहस में भी वही हुआ जो प्रगतिशील आलोचना की दूसरी बहसों में हुआ था, "दो खेमे बन गये थे। एक खेमे में हिन्दी प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री रामविलास शर्मा थे तो दूसरे खेमे में शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय, प्रकाश चन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, राम गोपाल सिंह चौहान और पहाड़ी।"[92]

वास्तव में, साहित्य में संयुक्त मोर्चे की बहस जितनी साहित्य से जुड़ी थी उससे कम भारतीय राजनीति और उसके स्वरूप के विश्लेषण से नहीं। भारत के आज़ाद होने के बाद यह बहस वामपंथी खेमे में तेज हो गयी कि इस 'आज़ादी' को वे किस रूप में व्याख्यायित करें। रामविलास शर्मा ने स्पष्ट रूप से इसे 'झूठी' तथा 'कांग्रेसी' आजादी कहा था 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' (1954) नामक पुस्तक के प्रथम संस्करण में ऐसे विचार देखे जा सकते हैं। बाद में, डॉ. शर्मा ने चुन चुन उन अंशों को निकाल दिया है।

1951 ई० में रामविलास शर्मा साहित्य में संयुक्त मोर्चे का जो प्रस्ताव रखते हैं उसका आधार 'मजदूर वर्ग का नेतृत्व' है। वे 'राष्ट्रीय पूँजीवाद' को 'शत्रु' मानते हैं।'[93] लेकिन रांगेय राघव सहित 'दूसरे खेमे' के सभी आलोचकों की राय में यह 'भारत की परिस्थितियों' को ठीक से न समझ पाने का दोष है और यदि इसको लेकर हठ किया जाता है तो यह 'संकीर्णतावाद' है।[94] और 'इस संकीर्णतावाद' में, "शत्रु-मित्र की परख नहीं है पूँजीवाद एक वर्ग के रूप में चीन की भाँति यहाँ अलग हटा दिया गया है।"[95] साहित्य में भी इन विचारों का प्रतिबिम्बन होता है। रांगेय राघव सहित दूसरे प्रगतिशील आलोचक 'व्यापक जनवादी आधार' पर 'संयुक्त मोर्चे' की दलील देते हैं। लेकिन, इस दलील में डॉ. रामविलास शर्मा 'विसर्जनवाद' पाते हैं। 'विसर्जन' अर्थात्, 'संघर्ष का विसर्जन।'[96] डॉ० रामविलास शर्मा 'मजदूर वर्ग' के समर्थक और 'साम्राज्यवाद, सामंतवाद के खिलाफ़ लिखे जा रहे साहित्य और ऐसी ही विचारधारा के समर्थकों का 'संयुक्त मोर्चा' देखना चाहते थे लेकिन शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, अमृतराय और प्रकाशचन्द्र गुप्त इस मोर्चे में न केवल 'मजदूर वर्ग' बल्कि जनवादी विचारधारा के उन सभी लेखकों को शामिल करना चाहते थे जो "सामंतवाद, विदेशी पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और उस भारतीय पूँजीवाद के विरुद्ध है जो निर्विवाद रूप से या छद्म रूप से कम्प्रेडोर है।"[97]

इस प्रकार साहित्य में संयुक्त मोर्चे के प्रश्न को लेकर दो छोर इतनी दूर हो चुके थे कि उनके बीच कोई सार्थक सहमति असंभव थी। डॉ० रामविलास शर्मा जहाँ तत्कालीन 'सशस्त्रक्रांति' के 'तूफान' से प्रभावित थे, वहीं दूसरे प्रगतिशील आलोचक दूरगामी परिणामों पर नज़र रखे हुए थे। अन्ततः संयुक्त मोर्चे की बहस, 'बहस' बनकर ही रह गयी/किसी सार्थक परिणाम तक न पहुँच सकी।

साहित्य में पंत ने कई मोड़ लिये थे। छायावादी से मार्क्सवादी होने की छलांग जितनी तेजी से लगी थी, उतनी ही तेजी के साथ, झटके से, 'स्वर्ण धूलि' और 'स्वर्ण किरण' में वे गाँधीवाद और अरविन्ददर्शन की ओर मुड़ गये। डॉ. रामविलास शर्मा के लिए यह तीव्र आलोचना का विषय था, "मार्क्सवाद को तिलांजलि देकर पंत जी के पास आज यही राजनीति रह गयी है कि वह जनता को पूँजीवाद की गुलामी करना सिखायें।"[98] यही नहीं, लेखक के लिए 'वर्ग भेद' वाले समाज में "मध्यवर्ती मार्ग

चुनना नामुमकिन है।''[99] पंत 'मध्यवर्ती' मार्ग चुन रहे थे। मार्क्सवाद के 'रक्तक्रान्ति और वर्ग-युद्ध' के अतिरिक्त पंत "मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार'' करते हैं।[100] डॉ. रामविलास शर्मा के 'मध्यवर्ती मार्ग चुनना नामुमकिन' के यह बिल्कुल विपरीत विचार है। ऐसी स्थिति में पंत की तीखी आलोचना स्वाभाविक ही है।

डॉ० रामविलास शर्मा के विपरीत राहुल सांकृत्यायन, शिवदान सिंह चौहान और रांगेय राघव हैं। वे पंत को न केवल महत्वपूर्ण कवि मानते हैं बल्कि उन्हें, "छायावाद का सर्वश्रेष्ठ कवि''[101] भी मानते हैं। राहुल सांकृत्यायन और रांगेय राघव ने पंत पर पूरा एक अध्याय लिखा है। राहुल सांकृत्यायन का निष्कर्ष है कि "सुमित्रानन्दन पंत हिन्दी के युग प्रवर्तक कवि हैं।''[102] वे पंत को एक प्रकार से 'साहित्य-नेता' मानते हैं। राहुल की ही भाँति रांगेय राघव पंत और गाँधी पर सम्मिलित रूप से विचार करते हैं। गाँधी के प्रति रांगेय राघव का आकर्षण प्रारम्भ से ही था। गाँधी के विचारों में निहित त्याग, अहिंसा और मानवीयता उन्हें बहुत आकर्षित करती है। इसीलिए वे गाँधी को आधुनिक युग का 'संत' करार देते हैं और उन्हें उसी परम्परा से जोड़ते हैं जिसमें कबीर, नानक, सूर, तुलसी और मीरा आदि हो चुके हैं। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे गाँधी जी के अन्ध-भक्त थे। सच तो यह है कि "गाँधी प्रगतिशील भी था, प्रतिक्रियावादी भी।''[103] गाँधी जी के व्यक्तित्व में व्याप्त द्वन्द्व को रांगेय राघव ने ठीक ही पहचाना है। गाँधी जी और उनके विचारों को लेकर प्रगतिशील आलोचकों से रांगेय राघव के विचार अलग और आधुनिक लगते हैं। आज गाँधी जी को रांगेय राघव की ही भाँति समझा जा रहा है।

गाँधी जी का मानववादी दृष्टिकोण जिस प्रकार रांगेय राघव को आकर्षित करता है, उसी प्रकार पंत के विभिन्न भटकावों के बावजूद, उनका मानववादी स्वर उन्हें महत्वपूर्ण लगता है, "पंत प्रारम्भ से ही एक मानववादी कवि हैं और उसमें मूलत: वैष्णव विचारधारा की सहिष्णुता विद्यमान है।''[104] इसलिए पंत को पूँजीवादी या प्रतिक्रियावादी मानना, उनके साथ न्याय नहीं होगा। रांगेय राघव की धारणा है कि "पंत के विषय में अधिकांश भ्रम है।''[105] रांगेय राघव एक गम्भीर आलोचक की भाँति खानों में फिट करने की प्रवृत्ति से बचते हैं। वे साहित्यालोचना में किसी व्यक्ति में,

साहित्य में और युग में निहित अन्तर्द्वन्द्वों और बारीकियों को भी पकड़ते हैं।

प्रगतिशील आलोचना के विवादों में 'अश्लीलता का विवाद' भी जुड़ा है। यशपाल और राहुल सांकृत्यायन के साहित्य में रामविलास शर्मा ने 'अश्लीलता' का आरोप लगाया है। उन्होंने इन दोनों लेखकों के दृष्टिकोण को "सामन्ती-पूँजीवादी भोगवादियों"[106] के दृष्टिकोण के समान माना। यशपाल को तो डॉ. शर्मा ने 'अज्ञेय' और जैनेन्द्र की पंक्ति में खड़ा कर दिया।

'अश्लीलता' के आरोप में भी डॉ० रामविलास शर्मा उसी पद्धति को अपनाते हैं जिसे प्रगतिशील आलोचना के दूसरे विवादों में विपक्षी के सामने अपनाते हैं। अर्थात् कुछ अंशों को चुनकर, संदर्भ और प्रसंग का ख़याल रखे बिना, मनचाहे निष्कर्ष निकालना। 'नारी समस्या और विद्रोहवाद' में जिन उद्धरणों और अंशों के आधार पर यशपाल को यौनवादी और उनके साहित्य को 'अश्लील' करार दिया गया है, उन्हीं उद्धरणों और अंशों की पुनरावृत्ति 'यशपाल जी और अश्लीलता' में भी होती है। यहाँ सवाल आपत्तिजनक या असुविधाजनक उद्धरणों या अंशों से बचने का नहीं है बल्कि सवाल यह है कि क्या यशपाल ने उन उद्धरणों और अंशों के अतिरिक्त किसी प्रकार का लेखन कार्य नहीं किया है? क्या यशपाल के वे अंश, राहुल सांकृत्यायन के 'वोल्गा से गंगा' के कुछ अंश और रांगेय राघव के उपन्यासों, कहानियों और कविताओं के कुछ चित्र ही इन लेखकों का समग्र साहित्य है? और दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या इन लेखकों की मूल विश्वदृष्टि इन अंशों में व्यक्त दृष्टिकोण ही है? या फिर उनकी मूल विश्वदृष्टि उनके समग्र साहित्य में व्याप्त है, जो प्रगतिशील, क्रान्तिकारी और तार्किक है। 'अश्लीलता' के प्रश्न को इस दृष्टिकोण से नहीं उठाया गया। वहाँ भी दूसरे विवादों की भाँति 'दुराग्रह' प्रबल हो जाता है।

वास्तव में, प्रगतिशील साहित्य और आलोचना के जितने भी विवाद थे, वे नितांत व्यक्तिगत तो नहीं थे परन्तु उनमें बहस का जो लहजा और पद्धति अपनायी गयी वे, व्यक्तिगत कारणों से, प्रगतिशील आलोचना को क्षति पहुँचाने वाले साबित हुए। 'बहसें' अक्सर 'वितंण्डावाद' में बदल जाती थीं। इस सबके बावजूद इन विवादों से प्रगतिशील आलोचना के कुछ सैद्धान्तिक और वैचारिक मान-मूल्य भी निखरे। प्रगतिशील आलोचना इन विवादों में ही अपना आकार ग्रहण कर सकी है।

संदर्भ स्रोत

1. डॉ. कर्णसिंह चौहान, प्रगतिवादी आन्दोलन का इतिहास, पृ.-197
2. डॉ० रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, पृ.-224
3. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय (सं०) परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, पृ.-243
4. डॉ० रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, भूमिका
5. डॉ० कर्ण सिंह चौहान, प्रगतिवादी आन्दोलन का इतिहास, पृ.-193
6. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, पृ.259
7. डॉ. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.&71
8. वही, पृ.-71
9. वही, पृ.-71
10. शिवदान सिंह चौहान, साहित्यानुशीलन, पृ.-11
11. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय (सं०) परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, पृ.-285
12. कमला सांकृत्यायन, डॉ. खेमचन्द्र आनन्द, राहुल सांकृत्यायन के श्रेष्ठ निबन्ध, पृ.-17
13. वही, पृ.-20
14. वही, पृ.-23
15. वही, पृ.-33
16. डॉ० रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ.-26
17. वही, पृ.-26
18. डॉ० नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.-103
19. डॉ० रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगातिशील साहित्य, पृ.-25
20. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ.-6
21. वही, पृ.-6
22. वही, पृ..
23. वही, पृ.-14

24. वही, पृ.-18
25. वही, भूमिका-ग
26. डॉ० कर्णसिंह चौहान, प्रगतिवादी आंदोलन का इतिहास, पृ.-124
27. वही, पृ.-125
28. डॉ० रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, पृ.-134
29. डॉ० कर्णसिंह चौहान, प्रगतिवादी आन्दोलन का इतिहास, पृ.-126
30. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ.-9
31. डॉ० मैनेजर पाण्डेय, 'प्रगतिवाद का इतिहास या कोई इतिहास कैसे न लिखें' आलोचना, जून-अप्रैल-1986, पृ.-116
32. वही, पृ.-116
33. डॉ० रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ.-57
34. वही, पृ.-62
35. वही, पृ.-83
36. वही, पृ.-84
37. वही, पृ.-92
38. वही, पृ.-95
39. मार्क्स और एंगेल्स, कला और साहित्य, पृ.-107
40. रांगेय राघव, काव्य, यथार्थ और प्रगति, पृ.-3
41. वही, पृ.-152
42. वही, पृ.-148
43. वही, पृ.-105
44. रांगेय राघव, समीक्षा और आदर्श, पृ.-54
45. वही, पृ.-35
46. वही, पृ.-36
47. रांगेय राघव, समीक्षा और आदर्श, पृ.-26
48. वही, पृ.-25

49. डॉ० राम विलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ.-311
50. डॉ० नामवर सिंह, 'इतिहास की शव साधना,' आलोचना, अप्रैल-मई-जून, 2001, पृ.-247
51. डॉ० रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ.-241
52. वही, पृ.-247
53. पहल, अंक 64-65, अप्रैल-मई-जून-2000, पृ.-315
54. डॉ० रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ...26-27
55. इस संदर्भ में आलोचना, अप्रैल-जून, 1986 में प्रकाशित डॉ० मैनेजर पाण्डेय के लेख 'प्रगतिवाद का इतिहास या कोई इतिहास कैसे न लिखें' को देखा जा सकता है।
56. डॉ. रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, भूमिका
57. वही, पृ.-183
58. रांगेय राघव, मुर्दों का टीला, पृ.-1
59. वही, पृ.-11
60. वही, पृ.-12
61. आलोचना, अप्रैल-मई-जून, 2001, पृ.-193
62. वही, पृ.-247
63. रांगेय राघव, काव्य, यथार्थ और प्रगति, पृ.-76
64. वही, पृ.-79
65. रांगेय राघव, भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका, पृ.-128
66. रांगेय राघव, गोरखनाथ और उनका युग, भूमिका, क
67. रांगेय राघव, भारतीय संत परंपरा और समाज, पृ.-137
68. वही, पृ.-136
69. रांगेय राघव, संगम और संघर्ष, पृ.-70
70. वही, पृ.-56
71. डॉ. रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ.-242-243

72. वही, पृ.-250
73. वही, पृ.-113
74. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय (सं०) परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, पृ.-214
75. कमला सांकृत्यायन, डॉ० खेमचन्द्र आनन्द, राहुल सांकृत्यायन के श्रेष्ठ निबन्ध, पृ.-28
76. वही, पृ.-28
77. वही, पृ.-31
78. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय (सं०) परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, पृ.-215
79. वही, पृ.-151
80. शिवदान सिंह चौहान, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ.-5
81. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय (सं०) परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, पृ. -215
82. डॉ० रामविलास शर्मा, भारत की भाषा समस्या, भूमिका, प्रथम संस्करण
83. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय (सं०) परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, पृ.-215
84. डॉ० रामविलास शर्मा, भारत की भाषा समस्या, भूमिका
85. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ. -270
86. वही, पृ.-270
87. वही, पृ.-271
88. वही, पृ.-272
89. वही, पृ.-275
90. डॉ० मैनेजर पाण्डेय, 'प्रगतिवाद का इतिहास या कोई इतिहास कैसे न लिखा जाय', आलोचना, अप्रैल-जून, 1986, पृ.-112
91. रेखा अवस्थी, प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, पृ.-72
92. वही, पृ.-72
93. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ.-74
94. वही, पृ. -74
95. वही, पृ.-74
96. डॉ० रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ.-210

97. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ.-72
98. डॉ० राम विलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ.-80
99 वही, पृ.-80
100. वही, पृ.-122 से 'उत्तरा' की भूमिका के अंश।
101. शिवदान सिंह चौहान, साहित्यानुशीलन, पृ.-180
102. कमला सांकृत्यायन (सं०) राहुल वाङ्मय 2.2, पृ.-306
103. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ.-253
104. रांगेय राघव, संगम और संघर्ष, पृ.-86
105. वही, पृ.-86
106. डॉ० राम विलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ.-167

तीसरा अध्याय

रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि

1. सभ्यता-समीक्षा
2. संस्कृति, दर्शन और धर्म की सामाजिक व्याख्या
3. भारतीय पुनर्जागरण
4. राम कथाओं की तुलना
5. आधुनिक हिन्दी कविता : प्रेम, शृंगार, विषय और शैली

1. सभ्यता-समीक्षा

रांगेय राघव घोषित रूप से मार्क्सवादी साहित्यकार और आलोचक हैं। इसे रांगेय राघव अपनी रचनात्मक और आलोचनात्मक कृतियों के माध्यम से पुष्ट भी करते हैं। उनके समस्त साहित्य के किसी भी अंश को उठाया जा सकता है, उसमें मार्क्सवाद की मूल अवधारणाएँ स्पष्टतया दिखायी पड़ेंगी। लेकिन रांगेय राघव अपने समकालीन मार्क्सवादियों से भिन्न दृष्टिकोण और विचार रखते हैं। गाँधी के व्यक्तित्व में जो 'द्वन्द्व' रांगेय राघव खोजते और पाते हैं, वह 'द्वन्द्व' स्वयं उनके व्यक्तित्व और साहित्य-विवेक में भी देखने को मिलता है। एक ओर वे यदि घोषित रूप से मार्क्सवादी हैं तो दूसरी ओर भारतीय इतिहास की उस मानवीय परम्परा के प्रति उनका आरम्भ से आकर्षण है, जिसमें 'अहिंसा', 'सहिष्णुता' और 'सदिच्छा' के मानवीय तत्व मिलते हैं। इसी प्रकार मार्क्सवादी होते हुए भी वे स्पष्टतया घोषणा करते हैं कि "मैं मार्क्स के चिन्तन को अधिकांश मानता हूँ, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं यह भी मानता हूँ कि मार्क्स जो कह गया है, शाश्वत युगों तक मनुष्य के चिन्तन का आधार उसी नींव पर खड़ा रहेगा।"[1] मार्क्स के चिंतन के अधिकांश से अभिप्राय यही है कि उसमें जीवन और समाज की व्याख्या में निर्धारणवादी दृष्टिकोण अपनाना, मनुष्य की 'सदिच्छा' और 'जिजीविषा' को नकारना अथवा मार्क्सवाद के इन विचारों से विचारों की इति समझना, रांगेय राघव को स्वीकार नहीं है।

वास्तव में, रांगेय राघव अपने रचनात्मक और आलोचनात्मक-विवेक के विकास के प्रथम चरण से ही गाँधीवाद, भारतीय संत परम्परा और उसके मानवीय मूल्यों तथा भारत की सांस्कृतिक-सामाजिक विरासत से उतने ही गहरे तक प्रभावित मिलते हैं जितने कि मार्क्सवाद से। बार-बार वे भारत में सांस्कृतिक-सामाजिक इतिहास की ओर दृष्टिपात करते हैं, उसे मथते हैं और उसमें निहित उदात्त मानवीय मूल्यों को संजोने का प्रयास करते हैं। उनकी यही आकुल जिज्ञासा और 'सदिच्छा' अन्ततः उस व्यापकता को धारण करती है, जो 'सभ्यता-समीक्षा' के रूप में हिन्दी जगत के सामने उपस्थित होती है।

'सभ्यता-समीक्षा' 'मुक्तिबोध' का अपना अत्यन्त प्रिय और अर्थपूर्ण शब्द है।

लेकिन इस शब्द को और अधिक अर्थवत्ता दी है—रांगेय राघव के सम्पूर्ण रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य ने। रांगेय राघव ने पूर्व वैदिक युग से लेकर प्रेमचंद के बाद तक के भारत का (विशेष रूप से उत्तर भारत का) एक सामाजिक-सांस्कृतिक रेखाचित्र, अपने रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य के माध्यम से खींचने का प्रयास किया है। इस रेखाचित्र की सभी रेखाएँ पूर्ण और अविकृत ही हों, ऐसा भी नहीं है। लेकिन इस रेखांकन में जिस दृष्टिकोण और पद्धति को अपनाया गया है, वह अत्यन्त उल्लेखनीय और विश्लेष्य है।

'गोरखनाथ और उनका युग', (1962) 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) और 'तुलसीदास का कथा शिल्प' (1959) जैसी कुछ आलोचनात्मक पुस्तकें उन विवादों की छाया से दूर रहकर लिखी गयी हैं, जिसका असर उनकी प्रत्येक आलोचनात्मक पुस्तक के पन्ने-दर-पन्ने पर परिलक्षित होता है। इन आलोचनात्मक पुस्तकों और 'मुर्दो का टीला' (1948) सहित सैंकड़ों उपन्यासों और कविताओं में वे उस 'अवैदिक परम्परा' के अन्वेषण में दत्तचित्त होते नज़र आते हैं, जिसके सूत्र हड़प्पा के अनार्यों से लेकर 'करनट' जाति तक फैले हैं। रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि का प्रस्थान बिन्दु यही 'अवैदिक परम्परा का अन्वेषण' है।

'अवैदिक परम्परा का अन्वेषण' और उस अन्वेषण में 'अन्तर्मुक्ति' का परिणाम प्राप्त करना, रांगेय राघव का प्रिय 'सांस्कृतिक-सामाजिक' विषय रहा है।

प्रश्न यह उठता है कि रांगेय राघव क्यों 'अनार्य' और 'अवैदिक' परम्परा के अन्वेषण में ही इतने दत्तचित होते हैं कि प्रसंग और चर्चा कोई और कैसी भी हो, उसमें 'हड़प्पा-सभ्यता' से लेकर गाँधीजी तक का इतिहास आ ही जाता है। और वे बार-बार अनार्य, अवैदिक-शैव, दक्षिण भारतीय वैष्णव, निर्गुण संत और गाँधीजी को याद करना नहीं भूलते। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार इसका सीधा और सरल उत्तर 'पुनरुत्थानवाद' है। 'पुनरुत्थानवाद' भी सामान्य प्रकार का नहीं अपितु 'अनार्य पुनरुत्थानवाद'। डॉ० रामविलास शर्मा ही नहीं, अमृतराय भी मानते हैं कि रांगेय राघव में 'द्रविड़ संस्कृति का....आत्मगौरव''[2] मिलता है। 'राह के दीपक' में 'वंदना' कविता और सम्पूर्ण लेखन में फैले वे असंख्य वाक्य और विचार इस प्रकार के तर्को

के लिए तथ्य के रूप में पेश किए जाते हैं, जिनमें 'अनार्य परम्परा' के अन्वेषण और उसकी व्याख्या में सहानुभूति बरती गयी है। इससे किसी को असहमति नहीं हो सकती कि रांगेय राघव में 'द्रविड़ परम्परा' और 'संस्कृति' के प्रति न केवल आकर्षण है, अपितु कहीं-कहीं 'आत्म गौरव' भी मिलता है। ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। स्वयं रांगेय राघव ने इसे स्वीकार भी किया, "मैं दक्षिण का ब्राह्मण (जन्म से) हूँ और मैंने कहा कि दक्षिण का ब्राह्मण आर्य नहीं है, उसकी धमनी में भी द्रविड़ रक्त है।"[3] परन्तु 'द्रविड़-परम्परा और संस्कृति' के प्रति 'आत्मगौरव' का यह भाव तब अस्वाभाविक लगता जब रांगेय राघव इतिहास के तथ्यों के विरुद्ध अनार्य परम्परा की श्रेष्ठता और उसके वर्चस्व को ही प्रमुखता देते। रांगेय राघव के सम्पूर्ण साहित्य और उसमें निहित दृष्टिकोण में ऐसा असंतुलन या अस्वाभाविकता नहीं मिलती। वहाँ तो आर्य-अनार्य संघर्ष की परिणति 'अन्तर्भुक्ति' में होती है।

सभ्यता-समीक्षा में रांगेय राघव का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य 'परम्परा और इतिहास' में उस धारा का रेखांकन करना है, जो शोषित, उत्पीड़ित और संघर्षरत रही है। इस प्रक्रिया में यदि वे आर्थिक शोषण (वर्ग) को महत्व देते हैं तो भारत की निजी विशेषता ब्राह्मणवाद (वर्ण) को भी नहीं भूलते। वर्ग और वर्ण दोनों को ही वे समान रूप से अपनी आलोचना और विश्लेषण का विषय बनाते हैं। 'मुर्दों का टीला' (1948) से लेकर 'आखिरी आवाज़' (1962) तक इन दोनों कोटियों के आधार पर आलोचना-विश्लेषण जारी रहता है। आलोचनात्मक साहित्य में तो वे और भी दृढ़ता के साथ अपने विचार रखते हैं। इस संदर्भ में यह रोचक तथ्य सामने आता है कि रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, मुक्तिबोध, अमृतराय आदि प्रगतिशील साहित्यकारों की आलोचना-दृष्टि में वर्ग के साथ-साथ वर्ण की समस्या जहाँ इस शताब्दी के प्रारम्भ में ही मुख्य समस्या थी, वहीं डॉ० रामविलास शर्मा अन्त तक 'वर्ग' पर ही कायम रहे।[4]

रांगेय राघव ने सभ्यता का रचनात्मक इतिहास प्रस्तुत करने की कोशिश की है। इस इतिहास में उन घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों को विशेष महत्व दिया गया है, जिनमें मानव की 'जययात्रा' और उसका संघर्ष अभिव्यक्त होता है। सभ्यता की

पुनर्रचना उन्होंने क्रम से अर्थात् एक के बाद एक काल खण्ड को ध्यान में रखकर किया हो, ऐसा भी नहीं है। वे 'गोरखनाथ' की क्रान्तिकारी उपस्थिति और उनकी कविता के प्रभाव का अन्वेषण सबसे पहले शोध प्रबन्ध के रूप में करते हैं, तो दूसरा प्रयास 'भारतीय पुनर्जागरण' को समझने में दिखता है। 'हड़प्पा-सभ्यता' की जीवनी-शक्ति और संघर्षधारा को 'मुर्दों का टीला' (1948) अभिव्यक्त करता है। बहुत बाद में वे ऋग्वेद को एक 'प्राचीन कविता' मानकर उसकी भाव प्रवण ऋचाओं को अध्ययन का विषय बनाते हैं। उसके बाद महाभारात, रामायण, छठी शताब्दी ई० पू० के गणराज्य, 'बुद्ध', 'यशोधरा', 'कबीर', 'लोई', 'विद्यापति', 'तुलसीदास', 'रत्ना', 'बिहारी', 'महाराणा प्रताप', 'भारतेन्दु' आदि व्यक्ति, युग और परिस्थितियाँ हैं, जिन पर एक के बाद एक रचनात्मक कृतियाँ रांगेय राघव ने दी हैं। जो काल या व्यक्ति इन पुस्तकों में छूट गए हैं उन्हें रांगेय राघव ने 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' (1953) और 'महायात्रा गाथा' (1960-64) में सम्मिलित कर लिया है। आधुनिक युग के लोक-जीवन और शहरी-जीवन की छबियाँ तो उनके उपन्यासों में विद्यमान ही हैं।

इस प्रकार पूर्व वैदिक काल से लेकर स्वतंत्र्योत्तर भारत तक का एक ऐसा चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है, जिसमें मनुष्य निरन्तर संघर्षरत है, जीने की इच्छा से लबालब है।

सभ्यता के इतने विशाल दायरे को समेटना और उसकी पुनर्रचना करना अपने आप में महत्वपूर्ण तो है ही, परन्तु यह तब और महत्वपूर्ण हो जाता है, जब रांगेय राघव तत्कालीन पुरातात्विक और ऐतिहासिक स्रोतों का लाभ उठाते हुए यथासंभव, विवेकशील ढंग से, तर्कसंगत पुनर्रचना करते हैं। उनके यहाँ चमत्कार और पौराणिकता से बचने का प्रयास बराबर मिलता है। 'देवकी का बेटा' (1954) औपन्यासिक जीवनी देखी जा सकती है। यहाँ कृष्ण कोई चमत्कारिक, पौराणिक और दिव्यशक्ति से युक्त ईश्वर नहीं हैं, बल्कि एक सामान्य मनुष्य हैं जो सुख-दुख में अपने अन्दर वैसे ही उतार-चढ़ाव महसूस करते हैं, जैसे आम-जीवन में साधारण मनुष्य करता है।

सभ्यता की इस पुनर्रचना में रांगेय राघव मार्क्सवादी दृष्टि से समाज और व्यक्ति की व्याख्या भी करते चलते हैं या कहा जाए, उनका सम्पूर्ण साहित्य ही

मानव-सभ्यता और मानव-जीवन की इस दृष्टि से व्याख्या करने का प्रयास है। व्याख्या पुष्ट तथ्यों के सहयोग से ही प्रभावशाली और पूर्ण होती है। रांगेय राघव जिस समय 'सभ्यता-समीक्षा' में दत्तचित थे, उस समय तक शोध और पुरातात्विक प्रयास इतनी दूर तक नहीं पहुँच सका था कि उससे कोई स्पष्ट धारणा बनाई जा सके। तथ्यों के अभाव में रांगेय राघव ने 'परम्परा' और 'साहित्यिक स्रोतों', से काम लिया। ऐसी पद्धति में गलत निष्कर्षों तक पहुँच जाना स्वाभाविक ही है। प्रभाकर माचवे ने ठीक ही लिखा है कि "रांगेय राघव जी भी काफी स्वींपिग जनरलाइजेशंस से काम लेते हैं.... ।"[5] रांगेय राघव की यह आलोचना वास्तव में तथ्य रहित नहीं है। जिस विशाल दायरे को वे अपने आलोचनात्मक प्रक्रिया का हिस्सा बनाते हैं, उसके लिए धैर्य और समय चाहिए जबकि यह प्रकाशित पुस्तकों में ही नहीं, लोगों की जबानों तक में चढ़ा है कि रांगेय राघव लिखने, प्रकाशित करवाने और पुन: लिखने के बीच बहुत कम अन्तराल रखते थे।[6]

रांगेय राघव की सभ्यता-समीक्षा में एक जिज्ञासु और अन्वेषी मार्क्सवादी-जनवादी दृष्टि मिलती है जो उन्हें मानव की संघर्ष धारा और जिजीविषा को पहचानने में मदद पहुँचाती है।

2. संस्कृति, दर्शन और धर्म की सामाजिक व्याख्या

रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि में किसी भी विषय के मूल सामाजिक-आर्थिक कारणों में जाने की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल है। संस्कृति, दर्शन और धर्म का इतिहास के विभिन्न काल खण्डों में क्या और कैसा स्वरूप रहा है, जो स्वरूप रहा है, वह वैसा ही क्यों रहा है? कौन-सी प्रेरक शक्तियाँ थीं, जिन्होंने संस्कृति, दर्शन और धर्म को विभिन्न कालों में अलग-अलग भूमिका में अवतरित होने के लिए विवश किया आदि ऐसे कुछ अहम सवाल हैं, जिनसे रांगेय राघव बार-बार टकराते हैं।

ये सवाल रांगेय राघव की दृष्टि में सिर्फ़ सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से ही

महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि संस्कृति के एक विशेष रूप, साहित्य के लिए भी इनसे टकराना जरूरी है। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में लिखा था कि "धर्म को हटाकर भारत का इतिहास नहीं समझा जा सकता।"[7] क्यों दर्शन या धर्म को हटा कर भारत का इतिहास नहीं समझा जा सकता है? इसलिए कि 'धर्म' के नाम पर ही भारत में राजनीतिक निरंकुशता और 'वर्णव्यवस्था' को वैधता और अनालोच्य स्वरूप प्रदान किया जाता रहा है। सांस्कृतिक स्तर पर भी "धर्म ने काव्य और कला पर संसार के प्रत्येक देश में गहरा प्रभाव डाला है। उसके अंकुशों ने युग विशेषों में युग प्रवृत्तियाँ चलाई हैं।"[8] धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकारते हुए रांगेय राघव इस ओर इशारा करते हैं कि "धर्म हवा में से जन्म नहीं लेता।"[9] धर्म अपने समय की "सामाजिकता और तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था"[10] से सम्बन्ध रखता है। यही नहीं, "धर्मान्दोलन सदैव राजनीतिक आन्दोलनों के रूप में"[11] अभिव्यक्ति पाते रहे हैं।

रांगेय राघव धर्मों की इतिहास की धारा में प्रगतिशील भूमिका को भी नहीं नकारते। वे मानते हैं कि "प्रत्येक धर्म में मानवातवादी बातें"[12] मिलती हैं और एक समय ऐसा भी था जब "ईसा के मानवतावाद से दासों को समानता का अधिकार प्राप्त हुआ था।"[13] इसी प्रकार "मुहम्मद का धर्म अर्थात् इस्लाम मनुष्य के तत्कालीन समाज में बराबरी को लाया था।"[14] परवर्ती काल में इन धर्मों को लेकर कितनी खूनी जंगे हुई थीं, यह अब किसी भी विद्वान के लिए अज्ञेय नहीं है। भारत में भी धर्मों का विकास काफ़ी रोचक और जटिल रहा है। अवैदिक धार्मिक विश्वास वैदिक धार्मिक विश्वास के साथ ही नहीं, बौद्ध, जैन और इस्लाम धर्म के साथ इस प्रकार घुल मिल गए कि उन्हें अलग से पहचानना मुश्किल है। किसी समय बौद्ध धर्म और जैन धर्म अपनी विद्रोही मुद्रा से समाज के शोषित वर्ग को एक नयी ऊर्जा और राहत देने वाले साबित हुए थे तो कुछ शताब्दियों बाद ही तंत्र, मंत्र और योनि पूजा में वे विलीन हो गए।

धर्म के समान ही दर्शन की भी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि और प्रेरणा रही है। रांगेय राघव विभिन्न दर्शनों में निहित वर्गीय स्वार्थ और शोषण को नज़र अन्दाज

किये जाने के विरुद्ध हैं। वे मानते हैं कि "दर्शन अपनी विशेष सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर प्रगट हुए हैं''[15] और जब-जब "सामाजिक परिस्थितियाँ बदलती हैं तब-तब दर्शन भी बदलते हैं।''[16] दर्शन में सृष्टि के मूल रहस्य के अन्वेषण के साथ-साथ ईश्वर के अस्तित्व की व्यापक चर्चा मिलती है। लेकिन ईश्वर की इस चर्चा में भी वर्ग-स्वार्थ समाया रहता है। इसीलिए रांगेय राघव "ईश्वर के नाम जो ठगी''[17] चलाई जाती है उसका विरोध करते हैं।

भारत में धर्म और दर्शन में भाग्यवाद और मायावाद का प्रभाव न केवल प्राचीन काल से है, बल्कि आधुनिक समाज में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अब भी वर्तमान है। भाग्यवाद, मायावाद और आत्मा के पुनर्जन्म में निहित वर्ग-स्वार्थ को रांगेय राघव पहचानते हुए लिखते हैं कि "यह दर्शन बड़ा हानिकारक था। यह दर्शन दास-प्रथा के ह्रास के समय बढ़ा था।''[18]

इसी प्रकार 'वेदान्त' की पृष्ठभूमि में किसानों का सामन्तों द्वारा शोषण निहित है। इसीलिए 'वेदान्त उच्च वर्गों में अधिक से अधिक बढ़ चला और उसने जन समाज को फिर भाग्यवाद आदि में जकड़ा।''[19]

धर्म और दर्शन के समाज पक्ष का विश्लेषण करते हुए रांगेय राघव ने बार-बार उस तत्व को रेखांकित किया है जिसमें 'शोषण-पद्धति' को 'न्याय' पूर्ण बनाने की कशमकश दिखती है।[20] जाति-व्यवस्था और स्त्रियों की पराधीनता को भारत में प्राचीन काल से ही धार्मिक और दार्शनिक स्तर पर उचित और वैध सिद्ध करने की कोशिश की जाती रही है। रांगेय राघव उन लोगों के इस विश्वास का खण्डन करते हैं कि ये प्रथाएँ या रूढ़ियाँ वास्तव में धर्म या दर्शन की समस्याएँ हैं, बल्कि ये "वास्तविक रूप से देखने पर धर्म की समस्याएँ नहीं वरन् सामाजिक और सांस्कृतिक तथा आर्थिक समस्याएँ हैं।''[21]

हिन्दी साहित्य के लिए संस्कृति, दर्शन और धर्म के ये मुद्दे कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। रांगेय राघव इससे भली-भाँति परिचित थे। वे समझते थे कि बिना भारत के इतिहास में निहित शोषण और विषमता को समझे और उस शोषण और विषमता को आधार प्रदान करने वाले तत्वों संस्कृति, धर्म और दर्शन के मूल को पहचाने साहित्य या कला की चर्चा अधूरी होगी। इसी चिन्तन को तार्किक अभिव्यक्ति मिली थी 'हिन्दी

साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पूर्वपीठिका' में।

डॉ० रामविलास शर्मा रांगेय राघव पर धर्म को अधिक महत्व दिए जाने के कारण 'साम्प्रदायिक-भावना' का आरोप लगाते हैं।[22] वास्तव में यह आरोप रांगेय राघव के समस्त साहित्य और उसमें निहित दृष्टि को देखते हुए सत्य प्रतीत नहीं होता। रांगेय राघव 'धर्म' को 'साम्प्रदायिक-भावना' के प्रचार-प्रसार या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से नहीं देखते बल्कि वे उसकी सामाजिक भूमिका और धर्म से मानव-सम्बन्ध के दृष्टिकोण से देखते हैं। रांगेय राघव की प्रारम्भिक पुस्तक 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में यदि 'पुनरुत्थानवाद के बीज' दिखाई पड़ते हैं या 'हिन्दू-चेतना' और 'मुस्लिम-चेतना' की चर्चा दिखायी पड़ती है तो वहीं से रांगेय राघव की वैचारिक यात्रा समाप्त नहीं हो जाती। 1946 ई० के आस-पास भारतीय समाज में जो थरथरी थी, साम्प्रदायिकता की लपटें उठ-उठकर बुद्धिजीवियों के विवेक को भी तपा रही थीं, उसका असर पुस्तक में होना स्वाभाविक है। लेकिन 'पुनरुत्थानवाद का बीज' और 'साम्प्रदायिकता' की वह भावना क्या पल्लवित पुष्पित होकर वृक्ष का रूप धारण कर पाती है या अनुकूल वैचारिक परिस्थितियाँ न पाकर वह 'बीज' और 'भावना' महत्वहीन हो जाती है। क्या परवर्ती काल में इनके स्थान पर 'अन्तर्भुक्ति' और 'समन्वय' की भावना अपना विकास नहीं करती और वही रांगेय राघव के साहित्य और जीवन-दृष्टि का मूल स्वर और रंग नहीं बन जाती।

इस प्रकार रांगेय राघव 'सभ्यता-समीक्षा' या संस्कृति, धर्म और दर्शन की सामाजिक व्याख्या में किसी 'साम्प्रदायिक' या 'पुनरुत्थानवादी' दृष्टिकोण से संलग्न नहीं होते। इसके विपरीत वे भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास की पुनर्रचना उस दृष्टिकोण से करते हैं, जिसमें असंख्य जातियाँ, धर्म, दर्शन, सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ अपना-अपना योगदान करते हुए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में जीवित हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'महामानव समुद्र' का उल्लेख 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में अनायास ही नहीं आता है। उसका 'अन्तर्भुक्ति' के सिद्धान्त से गहरा रिश्ता है। रांगेय राघव मार्क्सवादी-जनवादी दृष्टिकोण से इसी अन्तर्भुक्ति को विश्लेषित कर रहे थे और इसी बहाने हिन्दी साहित्य के लिए एक गैर-साम्प्रदायिक और स्वस्थ परम्परा की पीठिका भी प्रस्तुत कर रहे थे।

3. भारतीय पुनर्जागरण

हिन्दी में 'पुनर्जागरण' और 'नवजागरण' की चर्चा मुख्यत: डॉ० रामविलास शर्मा ने चलायी है। डॉ० रामविलास शर्मा की स्थापनाओं और अवधारणाओं के विरोध ा और विस्तार में 'नवजागरण' की बहस आगे बढ़ी। डॉ० रामविलास शर्मा विशेष रूप से, 'हिन्दी नवजागरण' की बात करते हैं। लेकिन रांगेय राघव रामविलास शर्मा से पहले ही 'भारतीय पुनर्जागरण' की चर्चा करते हैं। इस पुनर्जागरण की चर्चा में बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान और हिन्दी प्रदेशों को शामिल किया गया है। इसमें 'प्राचीन अतीत' के 'गौरव' का भी उल्लेख किया गया है, लेकिन सोयी हुई संस्कृति को अंग्रेज़ों के शासन और व्यापार ने झकझोर दिया है, इसका भी उल्लेख किया गया है। रांगेय राघव कार्ल मार्क्स के भारत सम्बन्धी उस विचार से सहमत हैं जिसमें अनजाने ही अंग्रेजों द्वारा रेल आदि के माध्यम से एक नई सामाजिक-आर्थिक हलचल पैदा करने की बात की गई है।[23]

रांगेय राघव 'पुनर्जागरण' के सन्दर्भ में तथ्यात्मक रूप से कार्ल मार्क्स के भारत सम्बन्धी विचारों, रजनीपाम दत्त की पुस्तक 'इण्डिया टुडे' रमेश चन्द्र दत्त के 'भारत का आर्थिक इतिहास', एच. एन. मुखर्जी के 'भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष' आदि पर निर्भर होते हैं। भारत का आधुनिक इतिहास लिखते समय वे इन्हीं पुस्तकों से आँकड़े प्रस्तुत करते हैं। आँकड़ों के साथ-साथ रांगेय राघव ने इन पुस्तकों में व्यक्त विचारों से स्थान-स्थान पर सहमति भी व्यक्त की है। रजनी पामदत्त और कार्ल मार्क्स को छोड़कर उस युग के भारतीय इतिहासकारों के बारे में प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के विचार दृष्टव्य हैं, "अधिकांश भारतीय इतिहासकारों ने या तो स्वाधीनता के राष्ट्रीय आन्दोलन में स्वयं भाग लिया था, या वे उससे प्रभावित थे। उनकी मान्यता थी कि भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग इस देश में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व अस्तित्व में था और भारत का सुदूर अतीत विशेष रूप से उसके इतिहास का वैभवशाली युग था। यह दृष्टिकोण बीसवी सदी के प्रारम्भ में भारतीय जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का स्वाभाविक और अनिवार्य अंग था।"[24] रांगेय राघव की 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में 'राष्ट्रीय आकांक्षाओं का स्वाभाविक और अनिवार्य अंग' यदि

बीच-बीच में झलकता है या डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में 'पुनरुत्थानवाद' की झंकार सुनायी देती है, तो उसके मूल में तत्कालीन परिस्थितियाँ और भारतीय इतिहासकारों द्वारा निर्मित इतिहासबोध है। इसी इतिहास-बोध और राजनीतिक प्रवृत्तियों का असर "हिन्दु युग और मुस्लिम युग"[25] के विभाजन में भी दिखायी पड़ता है।

युग के जिस बंधन की चर्चा रांगेय राघव साहित्य और संस्कृति के विश्लेषण में अक्सर करते हैं, वह स्वयं उनके लिए भी प्रासंगिक है। 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में यह 'युग का बन्धन' पूरी मुखरता से विद्यमान है। डॉ० रामविलास शर्मा ने इस पुस्तक के माध्यम से रांगेय राघव को 'पुनरुत्थानवादी' सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु रोमिला थापर इस प्रकार की प्रवृत्तियों से ऐसा निष्कर्ष नहीं निकालतीं। उनकी मान्यता है कि ऐसे इतिहासकारों की "व्याख्या की कमियाँ बहुधा उनके युग की कमियाँ थी।"[26] "क्योंकि इतिहासकार अक्सर अपने युग का इतना अधिक प्रतिनिधित्व करता है कि यह बात खुद उसकी सोच से बाहर होती है।"[27] रांगेय राघव इतिहासकार उन अर्थों में तो नहीं हैं, जिन अर्थों में रोमिला थापर ने इस शब्द का प्रयोग किया है परन्तु उन्होंने 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में इतिहास की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रेखाएँ खींचने की कोशिश जरूर की है। दंगों का जिक्र और स्वाधीनता आन्दोलन का असर और आवेश इस पुस्तक के पन्ने-पन्ने पर विद्यमान है। इसलिए इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखे बिना रांगेय राघव की इस पुस्तक का अध्ययन गलत निष्कर्षों तक ले जायेगा।

रांगेय राघव आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक कारणों से बंगाल में पुनर्जागरण को सबसे पहले मानते हैं। "बंगाल हमारे पुनर्जागरण में सबसे आगे रहा।"[28] राजाराम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, द्वारकानाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र चटर्जी और रवीन्द्रनाथ टैगोर को रांगेय राघव ने 'बंगाल के पुनर्जागरण' के उन्नायकों में माना। इन उन्नायकों ने सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक रूढ़ियों और उलझनों को साफ करने में पूरा जोर लगाया। रांगेय राघव, राजाराम मोहन राय को समाज सुधारक के तौर पर ही नहीं याद करते वे उन्हें "बंगाली गद्य के निर्माता"[29] के तौर

पर भी याद करते हैं। वे उनकी प्रशंसा करते हैं कि राजा राम मोहनराय "अपनी भाषा को जनसाधारण की भाषा बनाकर लिखते थे।"[30] एक प्रकार से रांगेय राघव बंगाली पुनर्जागरण में साहित्य और भाषा की लोकोन्मुखता को रेखांकित कर रहे हैं। रांगेय राघव 'प्रेस की स्वतन्त्रता', 'बंगाल में मध्यवर्ग के विकास' और 'शिक्षा आदि की व्यवस्था' को पुनर्जागरण को गति प्रदान करने वाली शक्ति मानते हैं।

बंगाल की ही भाँति वे महाराष्ट्र में रानाडे, बालगंगाधर तिलक और पश्चिमी भारत में दयानन्द सरस्वती के सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों की चर्चा करते हैं। रांगेय राघव पुनर्जागरण के दौर में स्त्रियों की सोचनीय दशा को बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं, "स्त्री की समानता यदि भारतीय समाज में एक ओर मनु के समय से निषिद्ध थी तो शरीयत के अनुसार भी स्त्री पुरुष की सेवा करने के लिए ही पैदा हुई थी।"[31] इतना लिखने के बाद रांगेय राघव स्त्री की सर्वाधिक विडम्बनापूर्ण स्थिति की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं, "पर्दे की गहरी पर्तों के पीछे छिपी हुई वह भारतीय समाज में हाड़ मांस का पुतला मात्र थी।"[32] पुनर्जागरण में स्त्री की इस दुर्दशा को एक हद तक दूर करने में 'पश्चिम की हवा' का योगदान रहा।

बंगाल और महाराष्ट्र के पुनर्जागरण की चर्चा के उपरान्त जब रांगेय राघव 'हिन्दी पुनर्जागरण' की ओर दृष्टिपात करते हैं तो चर्चा उतनी राजनीतिक और सामाजिक नहीं रह जाती, जितनी साहित्यिक है। वे लिखते हैं, "भारतीय पुनर्जागरण में हिन्दी साहित्य का विशेष स्थान है।"[33] वास्तव में रांगेय राघव को हिन्दी प्रदेश में कोई ऐसा समाज सुधारक और नेता उस युग में दिखता ही नहीं, जिसको राजा राम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द या रानाडे के सामने खड़ा किया जा सके। 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में जहाँ 108 पृष्ठों तक बंगाल, महाराष्ट्र और पश्चिमी भारत की पुनर्जागरण की चर्चा की जाती रही है, वहीं मात्र 4-5 पृष्ठों में भारतेन्दु के माध्यम से हिन्दी साहित्य और हिन्दी पुनर्जागरण की चर्चा करके समाप्त कर दिया गया है। भारतेन्दु की साहित्यिक और सामाजिक उपलब्धियों के उल्लेख में भी अधिकांशत: रामविलास शर्मा के विचारों की छाया है। रांगेय राघव, रामविलास शर्मा से भारतेन्दु के विश्लेषण के सन्दर्भ में यदि किसी अर्थ में भिन्न और

आगे हैं तो इसमें कि वे स्पष्टतया हिन्दी में 'पुनर्जागरण' के प्रसारक के रूप में 'भारतेन्दु' का उल्लेख करते हैं। रामविलास शर्मा पुनर्जागरण या नवजागरण की अपनी धारणाएँ काफ़ी परवर्ती काल में हिन्दी जगत के सामने उपस्थित करते हैं।

'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में रांगेय राघव कुछ निष्कर्ष और सूत्र भी प्रस्तुत करते हैं जिनका पल्लवन हिन्दी साहित्य में बाद में बहसों के बीच हुआ। भारतीय पुनर्जागरण और विशेष रूप से बंगाल के पुनर्जागरण के प्रसार में "बंकिमचन्द्र चटर्जी' और रवीन्द्रनाथ टैगोर का बड़ा हाथ''[34] है। बंकित चन्द्र चटर्जी सहित विभिन्न समाज सुधारकों और नेताओं द्वारा प्रचारित-प्रसारित इस पुनर्जागरण की सीमाएं भी थीं। रांगेय राघव दो बार पुनर्जागरण के स्थान पर 'पुनरुत्थान' शब्द का प्रयोग 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में करते हैं। सम्भव है, यह बहुत सचेत प्रयोग न हो।[35] परन्तु रांगेय राघव इस भारतीय पुनर्जागरण में निहित पुनरुत्थानवादी भावना के प्रति सचेत न हों, ऐसा नहीं दिखता। वे लिखते हैं, "मध्यकालीन छाया में जबकि श्रमजीवी कमकर वर्ग, उद्योगवाद की बढ़ती को अंग्रेजों की नीति से रोकने के कारण अपनी पूरी शक्ति को जागृत नहीं कर सका था, प्राचीन का मोह होना आवश्यक था।''[36] प्राचीन का यह मोह परवर्ती काल में अभिव्यक्ति भी पाता है। रांगेय राघव के ही शब्दों में "आगे चलकर तिलक का शिवाजी उत्सव, महाराष्ट्र का प्रार्थना समाज सबके मूल में यही देश भक्ति थी, जो हिन्दू गौरव से स्फीत थी।''[37] 'प्राचीन का मोह' सिर्फ़ हिन्दुओं के अन्दर ही रहा हो, ऐसा भी नहीं था। मुसलमानों में भी सचेत और बुद्धिजीवी किस्म के लोगों में यह मोह विद्यमान था। 'प्राचीन का मोह' और हिन्दू अथवा मुस्लिम गौरव का भाव ही बाद में सामाजिक राजनीतिक कारणों से साम्प्रदायिक विद्वेषों में परिणत हो जाता है।

साम्प्रदायिक विद्वेष में निहित वर्गीय स्वार्थ और शोषित-उत्पीड़ित जनता की भूमिका को भी रांगेय राघव ने अत्यन्त विवेक पूर्ण ढंग से विश्लेषित किया है। रांगेय राघव समझते हैं कि "जनता में सदैव समान भावना रही, क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम जनता दोनों पर समान अत्याचार थे, हाँ जब-जब उच्चवर्गों को काम निकालना हुआ तब-तब उन्हें भड़काकर लड़ाया गया।''[38] रांगेय राघव के ये निष्कर्ष व्यापक अनुसंधान और खोज के पश्चात् निकाले गये इतिहासकार विपिनचन्द्र के निष्कर्षों से बहुत दूर नहीं हैं। 'पुनर्जागरण' और 'साम्प्रदायिकता के आपसी सम्बन्धों' में विपिन चन्द्र रांगेय राघव से असहमत नहीं हैं।

4. रामकथाओं की तुलना

तुलसीदास रांगेय राघव ही नहीं, हिन्दी के सभी प्रमुख आलोचकों के बीच आलोचना और विवाद का विषय रहे हैं। हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना में रांगेय राघव और डॉ० रामविलास शर्मा जिस एक मुद्दे को लेकर सर्वाधिक तीखी बहस में आमने-सामने थे, वह तुलसीदास और उनका साहित्य ही था। रांगेय राघव ने 'गोरखनाथ और उनका युग' (1944-48) से तुलसी के सन्दर्भ में विचार करना प्रारम्भ किया था। वह प्रक्रिया तीखे वाद-विवाद से गुजरती हुई 'तुलसीदास का कथाशिल्प' (1959) में जाकर ठहरी। यह पुस्तक सीधे विवादों के घेरे में नहीं है, फिर भी विवादों का असर और प्रेरणा इसमें अद्यान्त मौजूद हैं। रांगेय राघव पुस्तक के शुरू में ही कहते हैं–"प्राय: मुझ पर यह दोष लगाया जाता है कि मैं तुलसीदास जी की रचनाओं का विरोधी हूँ।"[32] ऐसा दोष कौन लगाता है, इसकी भी अस्पष्ट सी चर्चा 'अधकचरे आलोचक' के उल्लेख से मिलती है।[40] 'अधकचरे आलोचक' यहाँ राम विलास शर्मा ही हैं। उन्हीं के तर्कों के प्रसंग में यह विशेषण प्रयोग में लाया गया है।

रांगेय राघव तुलसीदास की रामकथा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन में विवाद की पृष्ठभूमि तो थी ही, साथ ही, एक जिज्ञासा और अनुमान के जाँच करने का भाव भी विद्यमान था। इस तुलनात्मक अध्ययन से काफ़ी पहले रांगेय राघव ने लिखा था, "हो सकता है कि जन समाज में ब्राह्मण दृष्टिकोण के अतिरिक्त भी रामाख्यान पर अपनी अलग परम्पराएँ रही हों। जो जैनों में प्रगट हुई हैं।"[41] यह 'हो सकता है' परवर्ती काल में तुलनात्मक अध्ययन का प्रेरक बना। रांगेय राघव के हिसाब से "हिन्दी में यह पहला ही प्रयत्न है।"[42] लेकिन जिस आलोचनात्मक विवेक और सूक्ष्म दृष्टिकोण का परिचय वे देते हैं, वह अपना सानी नहीं रखता। रांगेय राघव रामकथा की विभिन्न परम्पराओं को एक साथ अपने अध्ययन-विश्लेषण का विषय बनाते हैं। हालांकि अध्ययन वस्तु विषय तक ही सीमित है। और रांगेय राघव ने 'विद्वानों' से आग्रह भी किया है कि "वे इस कार्य को आगे बढ़ायें।"[43] फिर भी वस्तु-विषय के आपसी तुलना से कई रोचक तथ्य और उन तथ्यों की व्याख्या से कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आते हैं। इस तुलना से रांगेय राघव की

तुलसी सम्बन्धी कई स्थापनाओं को बल और दृढ़ता प्राप्त होती है।

तुलसीदास का 'रामचरितमानस' 'संस्कृत की विशाल परम्परा' को अकेले ही समेट लाने वाला ऐतिहासिक महत्व रखने वाला ग्रन्थ' है।[44] 'रामचरितमानस' ने 'संस्कृत की विशाल परम्परा' को अपने में समेटा तो है, परन्तु उस समेटने की प्रक्रिया में संग्रह और त्याग की पद्धति भी अपनायी गयी है। किसी वस्तु-विषय के संग्रह या त्याग में कवि की अपनी दृष्टि कार्य करती है। संग्रह या त्याग अनायास की जाने वाली प्रक्रिया या निर्लिप्त भाव से किया जाने वाला कार्य नहीं है। रांगेय राघव ने इसे पहचाना। उन्होंने देखा कि विभिन्न रामकथाओं में घटनाओं, पात्रों, परिस्थितियों, मुहावरों और भाषा का अन्तर तो है ही कवि की सामाजिक और धार्मिक दृष्टि में भी व्यापक अन्तर मिलता है। रांगेय राघव ने इस 'अन्तर' और 'अन्तर' में कार्यरत विचारधारा और दृष्टि को पकड़ने की कोशिश की है। वैसे उन्होंने तुलना में 'तुलना' को ही अधिक स्थान दिया है तुलना से प्राप्त तथ्यों की व्याख्या पर कम। उन्होंने तथ्यों की व्याख्या करने और निष्कर्ष निकालने की बजाय इशारा कर देना ही अधिक उचित समझा है।

राम को तुलसीदास सहित अन्य रामकथाकार 'परमात्मा का सगुण अवतार' मानते हैं, लेकिन रांगेय राघव ने ध्यान आकृष्ट किया है कि 'जैन पद्म पुराण' में 'ब्राह्मण ग्रन्थों' के राम के अवतारवाद की कल्पना के प्रभाव के बावजूद राम 'एक महापुरुष' के रूप में चित्रित किए गये हैं।[45]

वाल्मीकि 'रामायण' में 'जैन पद्मपुराण' की भाँति राम का चित्रण नहीं मिलता लेकिन उसमें भी राम परिस्थितिजन्य कमजोरियों से व्याकुल और भाव विह्वल दिखायी देते हैं। रांगेय राघव ने लिखा है कि 'वाल्मीकीय रामायण' में 'मर्यादा' के आवरण में छिपाने का प्रयत्न नहीं किया गया है।[46] वाल्मीकि के राम सीता-हरण होने से जिस हृदय विदारक 'रुदन' और वेदना से पीड़ित दिखते हैं वह अन्य रामकथाओं में नहीं मिलता।[47] वाल्मीकीय के यहाँ 'चमत्कारमयी वर्णन' भी[48] लगभग नहीं मिलते। उनके पात्र ऐतिहासिक सत्य' के अधिक निकट हैं। वाल्मीकि रामायण में राम 'मर्यादा पुरुषोत्तम और परमात्मा के अवतार' राम नहीं हैं वे एक राजा और मानव हैं।

बाल्मीकि के समय में राजा का सेना, खज़ाना, वेश्याओं, दास-दासियों से घिरा रहना अस्वाभाविक नहीं था। राम भी जब वन-गमन के लिए तैयार होते हैं तब उनके साथ इन सबको भेजने की चर्चा चलती है।

यही नहीं, रांगेय राघव ने तो यह भी दिखलाया है कि 'वाल्मीकीय रामायण' में 'गुह' रामचन्द्र का भक्त नहीं मित्र और एक स्वतन्त्र राजा है।[49] इसीप्रकार 'वाल्मीकीय रामायण' में शबरी को कहीं भी शूद्रा या नीच नहीं कहा गया है न वह स्वयं ही अपने को इस तरह कहती है, जैसे 'अध्यात्म रामायण' या 'मानस' में कहती है।''[50] गो, ब्राह्मण और वर्णव्यवस्था के प्रति 'रामचरितमानस' में जो दृष्टिकोण मिलते हैं, उस प्रकार के 'ब्राह्मणवादी' दृष्टिकोण की इस रूप में अभिव्यक्ति अन्य रामायणों में नहीं है।''[51]

रांगेय राघव के तुलनात्मक अध्ययन में यह बात स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है कि रामकथाओं की कोई एक परम्परा नहीं है और न ही सारी राम कथाओं में एक ही प्रकार के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है। जहाँ जैन रामकथाओं में ब्राह्मणवादी परम्परा से हटकर जैन परम्परा का वर्णन मिलता है वहीं ब्राह्मण-परम्पराओं की रामायणों में भी परस्पर भेद मिलता है। ये भेद सिर्फ, सर्ग, काण्ड, भाषा और छन्द के नहीं है, अपितु ये भेद तो कवि की सामाजिक-दृष्टि और आदर्श के भी हैं।

'वाल्मीकीय' रामायण में घटनाएँ, पात्र, परिस्थितियाँ और दृष्टिकोण जहाँ अधिक मानवीय और मानव-सुलभ कमजोरियों से युक्त नज़र आते हैं, वहीं तुलसी के 'रामचरितमानस' में चमत्कार, अवतारवाद और पूर्वनिर्धारित वर्णन पद्धति अधिक मुखर हैं। रांगेय राघव ने एक स्थान पर स्पष्ट शब्दों में लिखा भी है कि 'रामचरितमानस' में ऐसे प्रसंग भी हैं जहाँ कथा अपने "स्वाभाविक गुण औद्भुत्य (Strangeness) और औत्सुक्य (Suspense) को खोकर एक कठपुतली का तमाशा जैसी बन जाती है'' और ऐसी कथाओं में "एक भक्त ही भगवान की अलौकिक महिमा में डूबा आनन्द ले सकता है।''[52] वस्तुत: तुलसी की सारी रामकथा परमात्मा की लीला लगती है। उसमें 'रामराज्य' के लिए भी स्थान निकाल लिया जाता है। रांगेय राघव के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तुलसी के यहाँ जिस प्रकार उपदेशात्मकता और अलौकिक

प्रसंग बार-बार आते हैं, उस प्रकार वाल्मीकि रामायण में नहीं आते।

लेकिन तुलसीदास ने कुछ ऐसी मौलिक उद्‌भावनाएं भी की हैं जो विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं। 'रामचरितमानस' का 'जनक वाटिका प्रसंग' ऐसा ही है। रांगेय राघव के अनुसार 'रामचरितमानस' का यह प्रसंग "बिल्कुल नया है जो अन्य रामायणों में नहीं मिलता।"[53] यह गौर करने की बात है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को यह प्रसंग काफ़ी रोचक और उल्लेखनीय लगता है।

रांगेय राघव ने 'रामचरितमानस' में अभिव्यक्त समाज और संस्कृति पर अलग से विस्तृत चर्चा तो नहीं की परन्तु प्रसंग आने पर, वे कुछ ऐसे भी संकेत देते चलते हैं, जिनमें 'रामचरितमानस' की 'समाजशास्त्रीय व्याख्या' के तत्व निहित हैं। 'रामचरितमानस' और 'वाल्मीकि रामायण' में चित्रित विवाह प्रणाली की व्याख्या करते हुए रांगेय राघव, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वाल्मीकि के रामायण में वर्णित विवाह ईसा से पूर्व के समाज में प्रचलित यज्ञादि को अधिक महत्व देता है, जबकि तुलसीदास के 'मानस' में वर्णन विवाह में "मध्यकालीन-राजपूत प्रणाली के विवाह की पूरी छाप है।"[54] 'रामचरित मानस' और 'वाल्मीकि रामायण' में चित्रित समाज की यह व्याख्या निस्संदेह अत्यन्त सूक्ष्म आलोचना-दृष्टि की ओर इशारा करती है।

'जनक वाटिका प्रसंग' की जो मौलिक उद्‌भावना तुलसीदास में मिलती है, उसमें भी रांगेय राघव ने नायक-नायिका वर्णन की रीतिकालीन परिपाटी का प्रारम्भिक रूप माना है। यहाँ रांगेय राघव तुलसीदास की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं कि "कठोर मर्यादा के पालक तुलसी की कलम से इस तरह के सुन्दर प्रसंग का वर्णन उनकी महान उदारता का द्योतक है।"[55] 'तुलसीदास का कथा-शिल्प' में रांगेय राघव ने जिस आलोचनात्मक विवेक का परिचय दिया है और 'तुलनात्मक आलोचना' की जिस गम्भीर पद्धति से रामकथाओं की तुलना की है वह निश्चय ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में अद्वितीय है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि रांगेय राघव एक सधे हुए मार्क्सवादी की भाँति इन रामकथाओं से व्यवहार करते हैं। वे रामकथाओं में प्राप्त होने वाले दृष्टिकोण और विचारों को किसी कवि के ही दिमाग की शरारत नहीं समझ बैठते, बल्कि वे इन रामकथाओं के अन्तर को "अपने-अपने युगों की सीमाओं और दृष्टिकोणों"[56] का अन्तर मानते हैं।

रांगेय राघव इस तरह के अध्ययन के पीछे एक गहरा अर्थ और उद्देश्य पाते हैं। ऐसे अध्ययन से कई प्रकार के भ्रम और उन भ्रमों से लिपटे निष्कर्षों को गलत साबित किया जा सकता है। विशुद्ध अकादमिक लिहाज से भी यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि राम कथाओं के विभिन्न रूपों की छान-बीन की जाये। रांगेय राघव की इस छान-बीन में अकादमिक भाव तो सम्मिलित था ही, उन्हें इस जिज्ञासा का भी उत्तर इससे मिला कि रामकथाओं का विकास और विस्तार कैसे हुआ? कैसे उनमें अलौकिक अंश बढ़ते चले गए? रांगेय राघव अन्त में लिखते भी हैं–"इससे हमें मालूम होता है कि किस तरह राजा राम की कथा परवर्ती कथाकारों के हाथों में एक अलौकिक रूप धारण कर गयी और तर्क का स्थान उसमें न होने के कारण उसमें चमत्कार जुड़ गए।"[57] 'चमत्कार' और वस्तुस्थिति के बारे में भ्रमपूर्ण रवैया ये दो ऐसे तत्व हैं जिनसे रांगेय राघव को परेशानी है। वे 'चमत्कार' को किसी भी रूप में सहन नहीं कर पाते। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "प्रगतिशील विचारक चमत्कारों के आगे नहीं झुकता, वह उन्हें समझने की चेष्टा करता है।"[58] इसी प्रकार रांगेय राघव वस्तुस्थिति के बारे में भी किसी भ्रमपूर्ण रवैये की खुली आलोचना करते हैं। जो समझते हैं कि पुराण, रामायण और महाभारत ऐसे पवित्र और पूज्य ग्रन्थ हैं कि उन पर अंगुली नहीं उठायी जा सकती, या जो यह समझते हैं कि 'ऋग्वेद' से लेकर 'रामचरितमानस' तक में सारी बातें तर्क संगत और पूर्ण हैं, उन्हें रांगेय राघव के इस वाक्य पर गौर करना चाहिए, "पुराण, रामायण और महाभारत में इतनी तर्कहीन असंगतियाँ मिलती हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता।"[59]

रांगेय राघव का आलोचनात्मक विवेक यहाँ अपने सर्वाधिक साफ-सुथरे ढंग से व्यक्त हुआ है। यह अनावृत तथ्य है कि रांगेय राघव 'परम्परा और इतिहास' की ओर बार-बार मुड़ते हैं। 'परम्परा और इतिहास' में भी ऋग्वेद, रामायण, महाभारत आदि कृतियों के प्रति उनका विशेष अनुराग है, वे बार-बार इनसे विचार-सूत्र ग्रहण करते हैं। लेकिन 'परम्परा' की इस साधना में वे 'परम्परा' से आक्रान्त नहीं होते। वे 'परम्परा' और इन ग्रन्थों की शक्ति और सीमा को भली-भाँति समझते हैं। 'शव' की भाँति 'परम्परा' को साधते समय रांगेय राघव न तो विवेक खोते हैं और न ही उनका मुख अतीत की ओर रहता है।

5. आधुनिक हिन्दी कविता : प्रेम, शृंगार, विषय और शैली

रांगेय राघव के साहित्यिक जीवन के आखिरी वर्षों तक साहित्यिक परिदृश्य काफ़ी बदल चुका होता है। प्रगतिशील आन्दोलन में विघटन हो चुका होता है और प्रगतिशील आलोचना में 'जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि' का आरोप तीखा हो गया था। रांगेय राघव को भी लग रहा था कि आलोचना में ऐसे मानदण्ड प्रयोग में लाए जा रहे हैं जो कविता या साहित्य की निष्पक्ष आलोचना न करके 'कवि' के अनुसार 'फतवा' जारी करने से सम्बन्धित हैं। "यहाँ कवित्व को न देखकर, उसकी कविता को न देखकर, कविमात्र को ही देखा जाता रहा है।"[60] ऐसा क्यों होता है? रांगेय राघव के अनुसार यह समस्या किसी 'वाद' को प्रमुखता दिए जाने से पैदा होती है। 'वाद' की प्रमुखता का परिणाम यह होता है कि "बहुत से कवि जो पलायनवादी समझे जाते हैं उन्होंने जीवन के बहुत सुन्दर यथार्थ चित्रण किए हैं।"[61] लेकिन अभी तक ऐसे "कवियों की निष्पक्ष आलोचना नहीं हुई है।"[62]

रांगेय राघव इसी भाव से हिन्दी के कुछ नए कवियों की 'निष्पक्ष आलोचना' के लिए उद्यत होते हैं। एक बार फिर रांगेय राघव 'नया मानववाद', 'रससिद्धान्त' और 'व्यक्ति और समय' के आपसी रिश्तों की चर्चा करते हैं। यह ध्यान रखे बिना रांगेय राघव के आलोचना-दृष्टि के विकास को नहीं समझा जा सकता कि दुनिया भर के मार्क्सवादी नेता और संस्कृतिकर्मी जिस 'रुस' के प्रति अत्यन्त आशा भरी निगाहों से देख रहे थे और उम्मीद कर रहे थे कि वहाँ लेखक और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन न होगा बल्कि उन्मुक्त विकास का अवसर मिलेगा, उसी रूस में स्टालिन के मृत्योपरान्त ऐसे-ऐसे तथ्य सामने आए जो निराश और हतोत्साहित करने वाले सिद्ध हुए। स्वयं रांगेय राघव के विचारों में भी इसकी छाप है, "रूस की व्यवस्था में व्यक्ति स्वातंत्र्य का हरण प्रकट हुआ जिससे 'मानववाद' के प्रति आसक्ति बढ़ी।"[63] किस मानववाद के प्रति आसक्ति बढ़ी है? रांगेय राघव के अनुसार 'नया मानववाद' के प्रति आसक्ति बढ़ी है। "नया मानववाद समान-समाज और समान-व्यक्ति दोनों को मानता है।"[64] यहाँ देखा जा सकता है कि सत्ता के दुरुपयोग के प्रति सावधानी का

भाव प्रमुख है।

रांगेय राघव के इसी 'नए मानववाद' की संगति 'साधारणीकरण' से होती है, जिसमें 'समाजपक्ष' और 'व्यक्तिपक्ष' का 'संतुलन'[65] मिलता है। इन्हीं मूल्यों को वे ध्यान में रखते हुए आधुनिक हिन्दी कविता को नयी दृष्टि से देखने का प्रयास करते हैं। आलोचनात्मक साहित्य में पहली बार रांगेय राघव 'व्यावहारिक आलोचना' की ओर भी उद्यत होते हैं। लेकिन मधुरेश ने जो लिखा है, उससे असहमत भी नहीं हुआ जा सकता है, "आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार' तथा 'आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली' शीर्षक से आधुनिक काव्य का जो मूल्यांकन उन्होंने किया है वह न तो बहुत व्यवस्थित ही है और न गम्भीर ही।.....यह विश्लेषण आधुनिक कविता को लेकर हमारी समझ को किसी भी स्तर पर समृद्ध नहीं करता।"[66] वास्तव में कोई भी अध्येता यदि रांगेय राघव की इन परवर्ती पुस्तकों से गुजरेगा तो वह पाएगा कि मधुरेश की आलोचना अनुचित नहीं है। इस प्रसंग में प्रदीप सक्सेना का यह प्रतिवाद कि साधारण समझी जाने वाली पुस्तक का पहला अध्याय ही असाधारण है और कितने ही सैद्धान्तिक सूत्र प्रस्तुत करती हैं।"[67] इसमें दो राय नहीं है कि 'आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली' का प्रथम अध्याय असाधारण है और उसमें 'कितने ही सैद्धान्तिक सूत्र हैं' लेकिन इन सैद्धान्तिक सूत्रों के पश्चात् सम्पूर्ण पुस्तक की चर्चा भी तो महत्वपूर्ण होनी चाहिए। प्रदीप सक्सेना इस प्रसंग में शान्त हैं। वास्तव में, मधुरेश की आपत्ति 'अव्यवस्थित' और 'अगम्भीर' होने को लेकर है, सैद्धान्तिक सूत्रों की अनुपलब्धता को लेकर नहीं। प्रदीप सक्सेना रांगेय राघव के आलोचनात्मक कर्म को हिन्दी जगत के सामने दृढ़ता से रखते हुए इतने आवेग में दिखते हैं कि विषय की समग्रता को भी ध्यान में नहीं रख पाते।

रांगेय राघव प्रगतिशील आलोचना में कई तरह से सक्रिय भागीदारी निभाते रहे। उन्होंने 1946 ई० से लेकर 1962 ई० तक मृत्युपर्यन्त अनेक विवादों में सक्रिय हस्तक्षेप किया और अपनी स्थापनाएं भी रखी। वे स्वाधीनता आन्दोलन की कोख से जन्मे थे। और संस्कृत, तमिल और हिन्दी की साहित्य परम्परा से अत्यन्त सहज रिश्ता

रखने वाले थे। उनकी आलोचना-दृष्टि के विकास में भारतीय मानवीय परम्परा के उदात्त तत्वों और दुनिया भर के प्रतिशील विचारों (विशेष रूप से मार्क्सवाद) का गहरा प्रभाव था। उन्होंने अनेक प्रकार से हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना को, विशेष रूप से, और हिन्दी आलोचना को सामान्य रूप से, समृद्ध किया। रांगेय राघव की आलोचना में ऐसे तत्व खोजे जा सकते हैं जो नितांत मौलिक, उत्प्रेरक और प्रासंगिक हैं।

संदर्भ स्रोत

1. रांगेय राघव, काव्य, यथार्थ और प्रगति, पृ.-126
2. डॉ० गोविन्द रजनीश (सं.) रांगेय राघव का रचना संसार, पृ.-39
3. रांगेय राघव, काव्य, यथार्थ और प्रगति, पृ.-79
4. डॉ० रामविलास शर्मा, भारतीय सौन्दर्यबोध और तुलसीदास, परिशिष्ट
5. कल्पना, जनवरी-1955
6. आगरा और जयपुर में रांगेय राघव के जानकार लोगों के बीच इस तरह की बातें अत्यन्त प्रचलित हैं। शोध के सिलसिले में मुझे ऐसे लोगों से मिलने का अवसर मिला है।
7. रांगेय राघव, भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका, पृ.-131
8. रांगेय राघव, समीक्षा और आदर्श, पृ.-16
9. रांगेय राघव, प्रगतिशील आलोचना के मानदण्ड, पृ.-27
10. वही, पृ.-27
11. वही, पृ.-27
12. वही, पृ.-27
13. वही, पृ.-27
14. वही, पृ.-27
15. वही, पृ.-25
16. वही, पृ.-25
17. वही, पृ.-25
18. वही, पृ.-25
19. वही, पृ.-26
20. वही, पृ.-26
21. वही, पृ.-26

22. रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ.-184
23. रांगेय राघव, भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका, पृ.-31
24. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पूर्वपीठिका, 13
25. वही, पृ.-16
26. वही, पृ.-17
27. वही, पृ.-17
28. रांगेय राघव, भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका-पृ.-13
29. वही, पृ.-22
30. वही, पृ.-22
31. वही, पृ.-43
32. वही, पृ.-43
33. वही, पृ.-108
34. वही, पृ.-113
35. वही, पृ.-82-85
36. वही, पृ.-33
37. वही, पृ.-58
38. वही, पृ.-86
39. रांगेय राघव, तुलसीदास का कथाशिल्प, दो शब्द, ख
40. वही, दो शब्द, ख
41. रांगेय राघव, प्रगतिशील आलोचना के मानदण्ड, पृ.-197
42. वही, पृ.-50
43. रांगेय राघव, तुलसीदास का कथाशिल्प, दो शब्द, घ
44. वही, दो शब्द, घ
45. वही, पृ.-20
46. वही, पृ.-102

47. वही, पृ.-116
48. वही, पृ.-101
49. वही, पृ.-38
50. वही, पृ.-125
51. वही, पृ.-124
52. वही, पृ.-101
53. वही, पृ.-42
54. वही, पृ.-62
55. वही, पृ.-43
56. वही, पृ.-276
57. वही, पृ.-276
58. रांगेय राघव, प्रगतिशील आलोचना के मानदण्ड, पृ.-41
59. वही, पृ.-42
60. रांगेय राघव, आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली, पृ.-19
61. वही, पृ.-23
62. वही, पृ.-23
63. वही, पृ.-43
64. वही, पृ.-42
65. वही, पृ.-38
66. मधुरेश, रांगेय राघव, पृ.-77
67. पहल-जून-2000, पृ.-329

चौथा अध्याय

रांगेय राघव की प्रगतिशील आलोचना को देन

1. गोरखनाथ के महत्व की पहचान
2. संतों और भक्तों के सामाजिक आधार की खोज
3. हिन्दी साहित्य : वर्ण, वर्णाश्रम और ब्राह्मणवाद
4. साहित्य में सापेक्ष स्वायत्तता
5. रचना प्रक्रिया का विश्लेषण
6. रस सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या
7. साहित्य में नारी और प्रेम की भूमिका
8. राम कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन और उनके रोचक निष्कर्ष
9. धर्म की मानववादी परम्परा का अन्वेषण
10. ऋग्वेद : एक प्राचीन कविता
11. रांगेय राघव के विचारों की प्रासंगिकता

रांगेय राघव ने संस्कृति और साहित्य से जुड़े लगभग हर महत्वपूर्ण विषय पर प्रगतिशील दृष्टि से विचार किया है। उनके विचार-क्षेत्र में धर्म, दर्शन, साहित्य, राजनीति, इतिहास, कला आदि सारे वे सामाजिक-सांस्कृतिक विषय आ गये हैं जिनसे साहित्य और आलोचना का गहरा रिश्ता है। प्रगतिशील आलोचना में दिलचस्पी रखने वाले उन आलोचकों और विद्वानों के लिए यह आश्चर्य का विषय हो सकता है कि रांगेय राघव ने उन सिद्धान्तों, विचारों और अवधारणाओं के बारे में आज से कई दशक पहले ही चर्चा शुरू कर दी थी, जो आज हिन्दी साहित्य-जगत में केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर रही हैं। प्रगतिशील साहित्य, आलोचना और आन्दोलन का इतिहास लिखने वाले उन शोधार्थियों के लिए भी यह कम विस्मय की बात नहीं होगी कि बहुत सी अवधारणाएँ, सिद्धान्त, विचार, व्याख्याएँ और मुद्दे जो बाद में कई प्रगतिशील आलोचकों के नाम के साथ जुड़े दिखते हैं, उन पर रांगेय राघव ने बहुत पहले ही अपने विचार व्यक्त कर दिये थे। इस प्रकार रांगेय राघव ने प्रगतिशील आलोचना को न केवल कई मौलिक और नवीन अवधारणाएँ दी हैं, बल्कि साहित्य और संस्कृति के समक्ष आने वाली चुनौतियों को भी उन्होंने दूसरे आलोचकों की अपेक्षा पहले ही पहचान लिया था।

रांगेय राघव के आलोचनात्मक योगदानों को बिना रेखांकित किये परवर्ती प्रगतिशील आलोचकों ने मौलिक और क्रान्तिकारी होने का यश भले ही अर्जित कर लिया हो, लेकिन इससे रांगेय राघव के आलोचनात्मक योगदानों को दबाया नहीं जा सकता। डॉ० प्रदीप सक्सेना ने अप्रैल-मई-जून 2000 के 'पहल' के 'मार्क्सवादी आलोचना विशेष' में रांगेय राघव के प्रति की गयी 'क्रूर उपेक्षा' की विस्तार से चर्चा की है और उसी प्रसंग में रांगेय राघव के आलोचनात्मक योगदानों की भी चर्चा की है। हिन्दी आलोचना के इतिहास में यह घटना की ही तरह महत्वपूर्ण है कि रांगेय राघव के आलोचनात्मक योगदान को पहचानने की कोशिश, इतने लम्बे अन्तराल के बाद, की गयी।

प्रगतिशील आलोचना को रांगेय राघव का कितना और कैसा योगदान है, इसे समझने के लिए उपर्युक्त पृष्ठभूमि आवश्यक थी। रांगेय राघव के आलोचनात्मक

लेखन में दो विशेषताएँ ऐसी मिलती हैं जिनके आधार पर उनके आलोचनात्मक योगदान को आसानी से रेखांकित किया जा सकता है। पहली विशेषता तो यह है कि रांगेय राघव ने बहुत से ऐसे विषयों पर सर्वप्रथम चर्चा की शुरूआत की है जो परवर्ती काल में डॉ० रामविलास शर्मा, मुक्ति बोध और दूसरे प्रगतिशील आलोचकों के विचार विमर्श के मुख्य विषय बने। ऐसे विषयों में भक्तिकाल की व्याख्या, संतों और भक्तों के सामाजिक आधार की खोज, तुलसीदास की विचारधारा और साहित्य, वैदिक साहित्य में प्राप्य काव्य तत्व, भारतीय पुनर्जागरण आदि प्रमुख थे। इसी के साथ रांगेय राघव संस्कृति और साहित्य में उन मूल्यों और विचारों की पुरजोर वकालत कर रहे थे, जिनका सम्बन्ध प्रगतिशील आलोचना से ही नहीं, बल्कि स्त्री और दलित आलोचना से भी है। इन विशेषताओं के साथ ही उनके आलोचनात्मक कर्म में उन प्रश्नों से भी जूझने की सफल कोशिश दिखती है जो अत्यन्त शोधपरक और अकादमिक परिणामों तक पहुँचाने वाले साबित होते हैं। 'तुलसीदास का कथा शिल्प' (1959) और 'गोरखनाथ और उनका युग' को यहाँ याद किया जा सकता है।

1. गोरखनाथ के महत्व की पहचान

रांगेय राघव की पहली आलोचनात्मक पुस्तक वह है जो सबसे बाद में, उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई–'गोरखनाथ और उनका युग'। गोरखनाथ और उनके विचारों का हिन्दी साहित्य पर काफी असर रहा है, इसे राहुल सांकृत्यायन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-तीनों ने ही समझा था। लेकिन तीनों ही विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में गोरखनाथ का महत्व कितना और कैसा है, इसे पूरी तरह से स्पष्ट नहीं किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो गोरखनाथ के नाम से लिखे गये कुछ ग्रन्थों की सूची दी है, परन्तु उन्हें उन पुस्तकों में कुछ रुचिकर और अर्थ पूर्ण प्राप्त नहीं हुआ। उनके अनुसार, "उनमें साम्प्रदायिक शिक्षा है।"[1] राहुल सांकृत्यायन ने सिद्धों और नाथों के योगदान की चर्चा की है परन्तु वे भी विस्तार से गोरखनाथ के महत्व को रेखांकित नहीं कर पाये। इस विषय पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पूरी गम्भीरता से, कुछ विस्तार से, विचार किया है। इसे रांगेय राघव ने भी स्वीकार किया है कि 'गोरखनाथ और उनका युग' के लिखने के दौरान आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की अप्रकाशित पुस्तक 'नाथ-सम्प्रदाय' से सहायता ली गयी है।[2] नाथ सम्प्रदाय और गोरखनाथ पर लिखी गयीं ब्रिग्स, मोहनलाल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तकों में गोरखनाथ का वह महत्व उभर कर सामने नहीं आता जो रांगेय राघव के 'गोरख नाथ और उनका युग' में दिखायी पड़ता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली बार "गोरक्ष के माध्यम से समस्त युग को नापने"[3] का प्रयास रांगेय राघव ने ही किया है। प्रदीप सक्सेना के ये विचार तर्क संगत प्रतीत होते हैं कि "जहाँ द्विवेदी जी परम्परा में सफलतापूर्वक प्रवेश तो कर जाते हैं, वहाँ आते समय वे पर्याप्त क्रान्तिकारी तत्वों को वहीं छोड़ आते हैं।"[4] गोरखनाथ के संदर्भ में भी यही कहा जा सकता है कि रांगेय राघव ने गोरखनाथ की बानियों का संत साहित्य पर जो प्रभाव विस्तार और सुसंगत ढंग से दिखलाया है, वह द्विवेदी जी के यहाँ अनुपलब्ध है। हिन्दी के आलोचना साहित्य को रांगेय राघव का यह विशेष योगदान है।

2. संतों और भक्तों के सामाजिक आधार की खोज

1955 ई० में मुक्तिबोध का एक लेख प्रकाशित होता है–'मध्य युगीन भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू।'[5] मुक्तिबोध अपने इस लेख की शुरुआत यूँ करते हैं, "मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि कबीर और निर्गुण पन्थ के अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रीय सन्त तुलसीदास जी की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं।"[6] इस प्रश्न के उत्तर में मुक्तिबोध कई प्रकार के तर्क उपस्थित करते हैं लेकिन अन्त में वह इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि "निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरुचि वालों का संघर्ष था। सगुण मत विजयी हुआ।"[7] निर्गुण मत में कबीर, रैदास, नाभा, सिंपी, सेना नाई आदि संत शामिल हैं तो सगुण मत में तुलसीदास प्रमुख हैं। मुक्तिबोध के मन में इस प्रकार का प्रश्न पहली बार जब भी उठा हो, लेकिन यह साहित्य जगत के सामने मई 1955 ई० में 'नई दिशा' में लेख के रूप में प्रकाशित होने के बाद ही उपस्थित होता है। बाद में नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज' में और प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने 'भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य' में इस लेख और विचार की चर्चा की है। चर्चा ही नहीं, इस लेख से एक प्रकार की बहस ही उठ गयी थी। परन्तु सबसे रोचक बात तो यह है कि किसी भी आलोचक ने यह नहीं जानना चाहा कि मुक्तिबोध से पहले भी किसी ने इस प्रकार के विचार तो व्यक्त नहीं किये हैं।

रांगेय राघव की एक पुस्तक का नाम है–'संगम और संघर्ष'। यह पुस्तक किताब महल, इलाहाबाद से 1953 ई० में प्रकाशित हुई थी। पुस्तक के पृष्ठ-39 पर यह वाक्य मिलता है, "ब्राह्मण स्वार्थ को जिस नये रूप की आवश्यकता थी, वह तुलसी ने दिया और निम्न वर्गों के विद्रोह को दाबकर उच्च वर्गों का सिरदर्द खत्म कर दिया।"[8] क्या यह मुक्तिबोध के विचारों से किसी भी प्रकार से अलग है। नामवर सिंह जब यह लिखते हैं कि "मई 1955 ई० की 'नयी दिशा' में प्रकाशित गजानन माधव मुक्तिबोध का निबन्ध 'मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू' अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"[9] और यह इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि मुक्तिबोध की इसमें "मुख्य स्थापना" यह है कि निचली जातियों के बीच से पैदा होने वाले संतों के द्वारा निर्गुण भक्ति के रूप में भक्ति

आन्दोलन एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में पैदा हुआ किन्तु आगे चलकर ऊँची जाति वालों ने इसकी शक्ति को पहचानकर इसे अपनाया। तब उनकी (नामवर सिंह) आँखों के आगे से 'संगम और संघर्ष' (1953 ई०) की स्थापनाएँ ओझल हो जाती हैं। ऐसा अज्ञानतावश हुआ है या जानबूझकर, कहना मुश्किल है। इस संदर्भ में यह तर्क भी दिया जा सकता है कि रांगेय राघव के विचार या स्थापना 'संगम और संघर्ष' (1953) के उस एक वाक्य में मुक्ति बोध से मिलती है लेकिन मुक्तिबोध की भाँति उस पर विस्तार से विचार नहीं किया गया। जबकि सच्चाई यह है कि 'गोरखनाथ और उनका युग' (1944-46, प्रकाशन-1962) 'भारतीय चिन्तन' (1949 ई०) और 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' (1953 ई०) से लेकर 'संगम और संघर्ष' (1953 ई०) तक इस प्रकार के विचारों की पूरी एक धारा देखी जा सकती है। परवर्ती काल की आलोचनात्मक कृतियों में भी इस विषय पर चिन्तन-मनन जारी रहता है। हिन्दी आलोचना में इस प्रकार की उपेक्षा और अतार्किक महिमा खण्डन की प्रवृत्ति आलोचना के विकास में बाधक ही हो सकती है।

3. हिन्दी साहित्य : वर्ण, वर्णाश्रम और ब्राह्मणवाद

प्रगतिशील आलोचकों में राहुल सांकृत्यायन के बाद रांगेय राघव ही ऐसे आलोचक हैं जो ब्राह्मणवाद की आलोचना में सर्वाधिक निष्पक्ष और निर्भय दिखते हैं। रांगेय राघव की यह निर्द्वन्द घोषणा दलित आलोचना की स्थापनाओं से भी अधिक दृढ़ और मुखर है, "ब्राह्मणवाद का प्रश्न मेरे लिए अनेक कारणों से विशेष महत्व रखता है क्योंकि मैं इस विषय पर अन्यों से अलग बात कहता हूँ।"[10] वे कौन 'अन्य' हैं जिनसे वे अलग बात रखते हैं। उस समय के परिदृश्य में डॉ. रामविलास शर्मा ही प्रमुख रूप से दिखते हैं। वास्तव में ब्राह्मणवाद के मुद्दे पर ही रामविलास शर्मा और रांगेय राघव की सर्वाधिक तीखी बहसें हुई हैं। रामविलास शर्मा जहाँ 'वर्ग' को ही

आलोचना के केन्द्र में मानते रहे वहाँ रांगेय राघव की स्पष्ट मान्यता है कि ब्राह्मणवाद का प्रश्न "सैद्धांतिक संघर्षपरक है इसलिए हिन्दी साहित्य के लिए भी विशेष महत्व रखता है।"[11] वर्ण और ब्राह्मणवाद 'हिन्दी साहित्य के लिए भी विशेष महत्व रखता है' यह विचार रांगेय राघव ने 1955 ई० में व्यक्त किया था। दलित आलोचना और आन्दोलन की शुरूआत रांगेय राघव की मृत्यु के दो दशक बाद होती है। आज दलित साहित्य और आलोचना रांगेय राघव को याद भी नहीं करना चाहती। ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र' हो अथवा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहे असंख्य लेख हों, किसी में भी रांगेय राघव की इस आलोचना-दृष्टि की कोई चर्चा नहीं की गयी है। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं कि "हिन्दी के स्थापित आलोचकों, समालोचकों, विद्वानों की यही स्थिति है। वे दोहरे मापदण्डों में जीते हैं।"[12] ऐसे आलोचकों में रांगेय राघव का नाम तो नहीं लिया गया है लेकिन हिन्दी के आलोचकों की बात करते समय रांगेय राघव की ओर गम्भीरता से ध्यान दिया जाना चाहिए था। "उनकी दृष्टि में निराला और तुलसीदास ही"[13] नहीं छाये हुए हैं। दलित साहित्य और आलोचना और आलोचना यदि उस परम्परा से टकराती है जिसमें "ब्राह्मणवादी एवं सामन्ती सोच के मूल्य"[14] प्रबल हैं तो उसे उस परम्परा का भी अनुसंधान करना चाहिए जिसने इन मूल्यों से 'दलित आलोचना' से पूर्व ही संघर्ष किया है। 'दलित आलोचना' कबीर, रैदास, फुले और अम्बेडकर तक ही अपने को सीमित रखकर अश्वघोष और रांगेय राघव जैसे साहित्यकारों और आलोचकों के प्रति अन्याय कर रही है।

डॉ० धर्मवीर "कबीर के आलोचक" में कबीर के विरोधियों की आलोचना करते समय यह भूल जाते हैं कि 'कबीर' के पक्ष में उनके महत्व और स्थान को हिन्दी जगत में स्थापित करने में रांगेय राघव जैसे आलोचकों का भी योगदान रहा है। धर्मवीर से कई दशक पूर्व रांगेय राघव ने उनसे भी अधिक दृढ़ता से कबीर की प्रगतिशीलता को रेखांकित किया था। क्या रांगेय राघव का यह योगदान उपेक्षा का विषय है?

दलित साहित्य और दलित आलोचना जिन मानवीय मूल्यों की पक्षधर है और जिन अमानवीय मूल्यों से उसका विरोध है, उसे रांगेय राघव बहुत पहले ही पहचान गये थे। वे परम्परा का मूल्यांकन करते हैं तो यह नहीं भूलते कि 'भारत में वर्ग की

समस्या ही नहीं जातियों की भी बड़ी समस्या थी।' ये विचार 1955 ई० में रखे गये हैं। उस समय तक डॉ० रामविलास शर्मा वर्गीय अवधारणा से तनिक भी इधर-उधर होने को तैयार न थे।

रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि में वर्णाश्रम और ब्राह्मणवाद एक महत्वपूर्ण समस्या बन के उभरते हैं, साथ ही, उनकी मान्यता है कि "जो इसे नहीं देखता, वह भारतीय संस्कृति का अ, आ, इ, ई भी नहीं जानता।"[15] यही नहीं, रांगेय राघव भारतीय समाज में विद्यमान छुआछूत की जितनी तीखी आलोचना करते हैं, वह उस समय के आलोचकों को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं, "सारी बराबरी की बात करते हुए भी अछूत को अछूत ही मानने वाले पुराणपंथी अभी तक मौजूद हैं।"[16]

दलित आलोचना रांगेय राघव के योगदान को उल्लेखनीय माने अथवा नहीं, लेकिन यह तो स्पष्ट है कि दलित आलोचना आज जिस मुकाम को पा सकी है उसमें रांगेय राघव के उन वैचारिक संघर्षों का कम योगदान नहीं है जिनमें मानवीयता के पक्ष में खड़े होने और ब्राह्मणवादी-पुराणपंथी ताकतों के विरोध में लड़ने का भाव निहित है।

4. साहित्य में सापेक्ष स्वायत्तता

डॉ० नामवर सिंह 'कविता के नये प्रतिमान' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में एक स्थान पर लिखते हैं, "मार्क्सवादी साहित्य-दृष्टि बराबर ही कविता की सापेक्ष स्वतंत्रता पर बल देती रही है। हिन्दी से और उदाहरण लें तो मुक्ति बोध के अलावा जिनका मत कविता के नये प्रतिमान में उद्धृत हैं, डॉ० रामविलास शर्मा के 'आस्था और सौंदर्य' में भी यही मान्यता व्यक्त की गयी है।"[17] डॉ० नामवर सिंह ने 'सापेक्ष स्वतंत्रता' की चर्चा में मुक्ति बोध और राम विलास शर्मा को याद किया है लेकिन रांगेय राघव उनकी नजरों से ओझल ही रह गये। 'समीक्षा और आदर्श' (1955 ई०)

में 'सदिच्छा' के माध्यम से रांगेय राघव ने जो विस्तृत विचार किये हैं उनका उल्लेख नामवर सिंह के यहाँ अनुपलब्ध है। रांगेय राघव ने 'स्वायत्तता' के सवाल को अलग ढंग से मगर अत्यन्त अर्थपूर्ण तरीके से उठाया है। रांगेय राघव लिखते हैं कि "मार्क्स ने यह स्वीकार किया कि व्यक्ति समाजगत होकर, वर्गीय जीवनगत होकर भी सीधे ही उत्पादन के साधनों से संबन्ध न रखने के कारण 'अंशत: स्वतंत्र' हो जाता है।"[18] लेखक कैसे वर्गीय जीवनगत होकर भी 'अंशत: स्वतंत्र' हो जाता है, इसे मार्क्स में दिखलाया लेकिन रांगेय राघव इससे संतुष्ट नहीं होते। वे लिखते हैं कि मार्क्स "स्वतंत्रता के इस रूप को सुलझा नहीं सका।"[19] रांगेय राघव 'सापेक्षा स्वतंत्रता' के सवाल को कलाकार द्वारा यथार्थ चित्रण के समय अपने ही वर्ग के विरुद्ध चित्रण कर जाने अथवा अपनी वर्गीय स्थिति से 'अंशत: स्वतंत्र' होने से जोड़कर देखते हैं। लेखक या कलाकार द्वारा अपने वर्ग के विरुद्ध लिख जाने के पीछे जिस मूल तत्व की प्रेरणा रहती है वह है 'सदिच्छा'[20] 'सदिच्छा' क्या है? "सदिच्छा मनुष्य की वह मूल चेतना है जिसको जिजीविषा, जीने की इच्छा कहते हैं, वह अपने व्यापकतम स्वरूप में लेखक में प्रगट होती है।"[21] इस प्रकार रांगेय राघव के यहाँ 'सापेक्ष स्वतंत्रता' या 'अंशत: स्वतंत्रता' को कविता की बजाय लेखक या कलाकार के माध्यम से उठाया गया है। क्या यह विषय कम महत्वपूर्ण है जो इस पर चर्चा नहीं की गयी। क्या 'सदिच्छा' की अवधारणा विचारणीय नहीं है?

वैसे रांगेय राघव के साहित्य में कविता, विशेष रूप से, आलोचनात्मक साहित्य में, कविता की उस 'सापेक्ष स्वतंत्रता' की चर्चा भी अप्राप्य नहीं है। रांगेय राघव 'काव्य यथार्थ और प्रगति' (1955) , 'काव्य, कला और शास्त्र' (1955) तथा 'समीक्षा और आदर्श' (1955) में साहित्य के साथ समाज, व्यक्ति, राजनीति के क्या सम्बन्ध होते हैं और साहित्य में विचारधारा, वस्तु और रूप की उपस्थिति कैसी होती है, इसकी भी विस्तृत चर्चा करते हैं। ऐसे प्रसंगों में मुक्तिबोध या रामविलास शर्मा के विचारों से भिन्न रांगेय राघव के विचार नहीं हैं। नामवर सिंह रांगेय राघव के इन विचारों की जाँच-पड़ताल करने के बाद सम्भवत: 'कविता के नये प्रतिमान' में कुछ अधिक जोड़ सकते थे।

5. रचना प्रक्रिया का विश्लेषण

1955 ई० में 'समीक्षा और आदर्श' का प्रकाशन हुआ था और 1963 ई० में मुक्ति बोध का लेख 'समीक्षा की समस्याएँ' प्रकाशित हुआ था। प्रदीप सक्सेना ने सम्भावना व्यक्त की है कि मुक्ति बोध का यह लेख "एक-दो साल आगे-पीछे" भी लिखा गया हो सकता है।"[22] रांगेय राघव ने रचना-प्रक्रिया को जिस प्रकार अत्यन्त सहज ढंग से रख दिया है, उसी को मुक्ति बोध ने 'समीक्षा की समस्याएँ' से पूर्व 'वस्तु और रूप' नाम से लिखे गये चार लेखों में विभिन्न तरीकों से रखा है। 'कामायनी एक पुनर्विचार' में भी इस प्रकार की चर्चा हुई है। हिन्दी के आलोचक मुक्तिबोध के रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण से बखूबी परिचित हैं। अगर अपरिचित हैं तो रांगेय राघव के रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण से। इसलिए रांगेय राघव के रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण को यहाँ देखा जा सकता है, "कवि का हृदय जब वस्तु को ग्रहण करके फिर अभिव्यक्त करता है तब वस्तु केवल वही नहीं रहती जो पहले थी। उस वस्तु में उसका व्यक्तित्व मिलकर बाहर ढलता है।"[23] यही नहीं, 'कलाकार अपने व्यक्तित्व से वस्तु का तादात्म्य करके सृजन करता है।"[24] इतनें में ही, रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण की पर्याप्त जानकारी मिल जाती है लेकिन, रांगेय राघव रचना-प्रक्रिया को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "कलाकार में वस्तु के सम्बन्ध में आने पर विशेष विचारों, अनुभूतियों तथा भावों का जागरण होता है। कलाकार का व्यक्तित्व उन सबको अपने भीतर लेकर उसे दूसरों को सुना देने की इच्छा करता है, क्योंकि उसका व्यक्तित्व अपने आप में पूर्ण नहीं हो जाता, उसकी पूर्णता, उसके व्यक्तित्व के समाज संबंधों पर निर्मित तथा निर्भर भी होती है।"[25]

रचना प्रक्रिया के विश्लेषण से सम्बन्धित ऐसे विचार और प्रयास 'समीक्षा और आदर्श' (1955) में स्थान-स्थान पर देखे जा सकते हैं।

मुक्तिबोध के यहाँ भी रचना-प्रक्रिया इसी तरह विश्लेषित हुई है। "लेकिन 1955 से पहले नहीं।"[26]

लेकिन मुक्तिबोध के सारे लेखों और पुस्तकों में रांगेय राघव का कहीं कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में या तो यह माना जाये कि मुक्ति बोध ने रांगेय

राघव के आलोचनात्मक लेखन को पढ़ा ही नहीं है या फिर उन्होंने उसका उल्लेख करना गैर-जरूरी समझा है। वास्तव में रांगेय राघव के आलोचनात्मक लेखन से अपरिचित होने का प्रश्न इसलिए संदेह के घेरे में आ जाता है कि 'समीक्षा की समस्याएँ' में मुक्तिबोध प्रगतिशील आलोचकों के नामों की सूची प्रस्तुत करते हुए डॉ० नामवर सिंह तक आते हैं।[27] स्पष्ट है कि रांगेय राघव 1963 ई० तक न केवल प्रतिष्ठित प्रगतिशील कथाकार हो चुके थे अपितु आलोचक के रूप में भी अज्ञात नहीं रह गये थे। यदि रांगेय राघव के आलोचनात्मक लेखन से अपरिचित होने का कारण सुसंगत नहीं जान पड़ता तब कौन-सा कारण बचता है जिसकी वजह से मुक्ति बोध ने रांगेय राघव के समान विचार रखे परन्तु रांगेय राघव का कोई सन्दर्भ नहीं दिया। क्या इसे भी रांगेय राघव की उपेक्षा मानी जाये या फिर अकादमिक ईमानदारी का अभाव? जिस रचना-प्रक्रिया विश्लेषण को लेकर प्रगतिशील आलोचना में मुक्तिबोध की इतनी चर्चा और प्रशंसा होती है, उसी रचना-प्रक्रिया को उद्‌घाटित करने वाले रांगेय राघव का नामोल्लेख तक अनुपलब्ध है। हिन्दी आलोचना के इतिहास में इस प्रकार की उपेक्षा कबीर के प्रति की गयी प्रारम्भिक आलोचकों की उपेक्षा की याद दिलाती है।

6. रस सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या

'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' (1954) सहित विभिन्न आलोचनात्मक कृतियों में रांगेय राघव 'रस सिद्धान्त' की व्याख्या करते हैं। 'समीक्षा और आदर्श' (1955) में पाद टिप्पणी में रांगेय राघव 'काव्य के मूल विवेच्य' में संकलित एक निबन्ध का उल्लेख करते हैं। निबन्ध का शीर्षक है–'रस तत्व और मार्क्सीय समीक्षा-आलोचना'।[28] शीर्षक से ही स्पष्ट है कि रांगेय राघव 'रसतत्व' की व्याख्या ऐसे ढंग से करने को उत्सुक हैं जो मार्क्सीय समीक्षा के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। भरतमुनि का रस सिद्धान्त रांगेय राघव को इसलिए भी विशेष रूप से आकृष्ट

करता है कि "भरत मुनि काव्य को जन सामान्य के लिए नीचे ले आये थे और उन्होंने काव्य को मुक्त किया था।''[25] रसवाद की जहाँ यह ऐतिहासिक और प्रगतिशील भूमिका रही है वहीं उसमें निहित 'साधारणीकरण' या 'उदात्तीकरण' का सिद्धान्त कम महत्वपूर्ण नहीं है। रांगेय राघव 'उदात्तीकरण' को 'अपने समाज सापेक्ष स्वरूप' में 'मानवीयतावाद' मानते हैं और इस 'मानवीयतावाद' को काव्य के लिए उपयोगी मानते हैं।[30] रस सिद्धान्त के मानवीय पक्ष से रांगेय राघव की सहमति है। साथ ही, वे रस-चर्वणा से प्राप्त आनन्द को शाश्वत नहीं मानते। उनके अनुसार, "यह युगानुरूप परिवर्तित होता रहता है।''[31] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र के विचारों से अलग रांगेय राघव 'रसवाद' की अधिक सामाजिक-व्याख्या करते हैं। वे 'रसवाद' को 'मानवीयतावाद' से जोड़कर उसे व्यापकता प्रदान कर रहे थे। रस सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या का प्रयास रोचक और महत्वपूर्ण तो हो सकता है परन्तु, जैसा कि रांगेय राघव स्वयं स्वीकार करते हैं कि रसवाद सामन्ती युग का सिद्धान्त है। वह बदली हुई सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में साहित्य की कसौटी नहीं बन सकता। उसके प्रति रांगेय राघव का आकर्षण अन्त तक दिखायी देता है। विशेष रूप से, रस सिद्धान्त के 'मानवीय' पक्ष से उनका विशेष अनुराग है। लेकिन रांगेय राघव डॉ० नगेन्द्र की तरह रस सिद्धान्त की वापसी इस लिए नहीं करना चाहते हैं कि उससे रूपवादी काव्य प्रवृत्तियों का औचित्य सिद्ध किया जाये बल्कि वे तो रस सिद्धान्त को अधिकाधिक सामाजिक और जीवनोन्मुखी बनाना चाहते थे। डॉ० नामवर सिंह ने रस सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना के दौरान 'कविता के नये प्रतिमान' में रांगेय राघव के इस प्रयास को याद करना जरूरी नहीं समझा। इस सैद्धान्तिक बहस में भी वे रांगेय राघव के कार्यों को अनदेखा कर जाते हैं।

7. साहित्य में नारी और प्रेम की भूमिका

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में दलित आन्दोलन के साथ-साथ नारी मुक्ति का आन्दोलन भी भारतीय समाज में केन्द्रीय महत्व को प्राप्त कर सका। रचनात्मकता का विषय और उसके मूल्यांकन में संलग्न आलोचना-दृष्टि-दोनों को ही इस

नारी-मुक्ति आन्दोलन ने व्यापक रूप से प्रभावित किया है। रांगेय राघव का रचनात्मक साहित्य तो नारी को शोषण से मुक्त कराने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ सा दिखता ही है, उनका आलोचनात्मक साहित्य भी ऐसे विचारों से अछूता नहीं है जिसमें नारी-मुक्ति के लिए सहानुभूति और संवेदना प्रकट की गयी है। 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' (1946) में ही रांगेय राघव ने भारतीय नारी के साथ हो रहे अन्याय के प्रति तीव्र क्षोभ प्रकट किया है, "स्त्री की समानता भारतीय समाज में एक ओर यदि मनु के समय से निषिद्ध थी, तो शरीयत के अनुसार भी स्त्री पुरुष की सेवा करने के लिए ही पैदा हुई थी।"[22] भारतीय पुनर्जागरण के समय स्त्री की दुर्दशा कैसी थी इसका वर्णन करते हुए रांगेय राघव ने लिखा है कि 'पर्दे की गहरी पर्तों के पीछे छिपी हुई वह भारतीय समाज में हाड़-मांस का पुतला मात्र थी।"[33]

इस हाड़-मांस के पुतले को रांगेय राघव ने व्यक्तित्व दिया है—अपनी उन सैंकड़ों रचनात्मक कृतियों में जिनकी चर्चा हिन्दी साहित्य में कम ही हुई है। उन औपन्यासिक जीवनियों में भी रांगेय राघव का स्त्री के प्रति दृष्टि कोण स्पष्ट होता है जिनमें लोई, रत्ना, लखिमा, राणा की पत्नी आदि का व्यक्तित्व साकार हुआ है। अपनी एक आलोचनात्मक कृति में रांगेय राघव आधुनिक कविता में प्रेम, नारी और उसकी स्थिति को समझने की कोशिश करते हैं। रांगेय राघव ने वैदिक साहित्य से लेकर नयी कविता तक में 'प्रेम के अनेक रूप'' को रेखांकित करने की कोशिश की है।[34] सम्भवत: हिन्दी आलोचना में यह उस समय तक, अपनी तरह का अकेला प्रयास था।

प्रेम को रांगेय राघव के समय तक साहित्य के लिए कोई प्रगतिशील विषय नहीं माना जाता था। लेकिन रांगेय राघव के विचार भिन्न हैं। वे प्रेम में भी वर्गीय धारणा देखते हैं, "एक वर्ग प्रेम में व्यक्तिवाद देखता है, दूसरा वर्ग प्रेम में ही आत्मविश्वास और तृप्ति देखता है।"[35] यह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और प्रो० मैनेजर पाण्डेय के उन विचारों से कितना अधिक मिलता है जिनमें इन दोनों विद्वानों ने प्रेम के कारण ही मनुष्य के महान होने की बात कही है। प्रो० मैनेजर पाण्डेय तो 'भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य' में गोपियों के प्रेम की क्रान्तिकारिता को स्वीकार

किये बिना नहीं रहते। रांगेय राघव जब यह कहते हैं कि 'प्रेम के समाज पक्ष का वर्गीय जीवन से बहुत बड़ा सम्बन्ध है।''[36] तो वे भी सामन्ती समाज में गोपियों के उन्मुक्त प्रेम की पक्षधरता कर रहे हैं।

भारतीय समाज स्त्री-पुरुष के प्रेम को सहजता से सहन नहीं कर पाता। रांगेय राघव नयी कविता की उस भावना की प्रशंसा करते हैं जिसमें नारी को भी 'प्रेम की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए'' का तर्क निहित है।[37] रांगेय राघव ने नारी, प्रेम और इनकी साहित्य में उपस्थिति की जाँच-पड़ताल अत्यन्त गंभीरता और आधुनिक दृष्टि कोण से की है। वे नारी की मुक्ति और समानता को लेकर परम्परावादी, पुरुष-वर्चस्ववादी दृष्टिकोण नहीं अपनाते। उनमें वैचारिक प्रगतिशीलता और उन्मुक्तता देखने को मिलती है।

रांगेय राघव की प्रगतिशील आलोचना को देन एक प्रकार से उस रूप में है जिसमें उन्होंने विभिन्न अवधारणाएँ, सिद्धांत, विचार और व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। ये अवधारणाएँ, सिद्धान्त, विचार और व्याख्याएँ कभी नितान्त मौलिक हैं तो कभी सर्वप्रथम व्यक्त होने से ऐतिहासिक महत्व की हैं। परवर्ती प्रगतिशील आलोचना ने सन्दर्भ सहित अथवा असन्दर्भित रूप में उससे बहुत कुछ अपनाया है।

8. राम कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन और उनके रोचक निष्कर्ष

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० रामविलास शर्मा-दोनों के ही प्रिय कवि हैं–तुलसीदास। ये दोनों आलोचक हिन्दी के महत्वपूर्ण आलोचक हैं और हिन्दी आलोचना में अपने व्यापक योगदान के लिए जाने जाते हैं। उन तुलसीदास के प्रेमियों की चर्चा यहाँ उतनी प्रासंगिक नहीं है जिनकी संख्या निश्चित कर पाना असंभव है। हिन्दी साहित्य और आलोचना में तुलसीदास पर सर्वाधिक गंभीर और मौलिक कार्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। उन्होंने न केवल हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसी

के जीवन, काव्य और विचारधारा की गम्भीर और मार्मिक चर्चा की है बल्कि तुलसी साहित्य का संपादन करते हुए एक अत्यन्त सार गर्भित भूमिका भी लिखी है। हिन्दी साहित्य जगत में माना जाता है, और यह अतार्किक भी नहीं है, कि आचार्य शुक्ल ने ही तुलसीदास को हिन्दी साहित्य के इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान दिलाया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात डॉ० रामविलास शर्मा ने तुलसीदास की विचारधारा को लेकर उठाये गये आक्षेपों और आरोपों का खण्डन किया है तथा तुलसीदास के बचाव में असंगत युक्तियों तक भी पहुँचे। लेकिन दोनों विद्वान आलोचकों ने तुलसीदास के साहित्य को केन्द्र में रखकर वैसा कार्य नहीं किया जैसा कि रांगेय राघव ने किया है।

रांगेय राघव की पुस्तक 'तुलसीदास का कथाशिल्प' 1959 ई० में प्रकाशित हुई थी। 1959 ई० तक हिन्दी साहित्य में ऐसी कोई कृति देखने को नहीं मिलती जो रामकथा के विभिन्न रूपों और संस्करणों का इतना तर्क संगत तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती हो। इस प्रकार का प्रयास परवर्ती काल में इतिहासकार रोमिला थापर ने किया है। उनके अध्ययन के केन्द्र में 'शकुन्तला' थी। यह हिन्दी आलोचना के लिए अत्यन्त विचारणीय विषय हो सकता था कि रांगेय राघव ने बिल्कुल नयी पद्धति से साहित्यालोचन के क्षेत्र में एक अध्ययन करके अत्यन्त रोचक निष्कर्ष निकाले हैं। लेकिन यह अपने आप में चिंता का विषय बना कि रांगेय राघव के इस प्रयास का भी कोई संज्ञान नहीं लिया गया। स्वयं रांगेय राघव ने अत्यन्त विनम्रता के साथ स्वीकार किया है कि "हिन्दी में यह पहला ही प्रयत्न है।"[38] और इस पहले प्रयत्न में भूलें भी हो सकती हैं। इसके लिए "अवश्य ही क्षम्य कहूँगा।"[39]

इस तुलनात्मक अध्ययन में रांगेय राघव ने "वस्तु-विषय को ही प्रधानता दी है।"[40] इस 'वस्तु विषय' के अध्ययन से कई रोचक निष्कर्ष निकलकर सामने आते हैं। हिन्दी जगत के सामने यह पहली बार स्पष्ट होता है कि राम कथा की दूसरी परम्पराएँ उदाहरण के लिए जैन परम्परा, उसी प्रकार से राम की कथा नहीं प्रस्तुत करती हैं जिस प्रकार से राम कथा की ब्राह्मण परम्परा। फिर ब्राह्मण परम्परा में भी कोई एकाश्मक स्वरूप नहीं मिलता। वाल्मीकि रामायण की रामकथा में सारे चरित्र

जिस प्रकार से अपनी मानवीय गरिमा और लघुता के साथ उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार से 'रामचरित मानस' में नहीं मिलते। 'रामचरित मानस' के 'राम' 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' हैं। वे अन्तर्यामी हैं। उनके सामने सारी घटनाएँ प्रत्यक्ष हैं। लेकिन वाल्मीकि के 'राम' मानवोचित आचरण करते हैं। वे क्रोधित होते हैं, प्रसन्न होते हैं।

उपदेशात्मकता और रामकथाओं के उद्देश्य भी अलग-अलग हैं। जैन परम्पराओं की राम कथा में जैन धर्म का स्पष्ट प्रभाव है और सारी रामकथा वहाँ जैन धर्म के इर्द-गिर्द घूमती है जबकि 'अध्यात्म रामायण', 'अद्भुत रामायण', 'रामचरित मानस' में लम्बे-लम्बे उपदेश मिलते हैं। रामचरित मानस में तो विशेष रूप से यह प्रवृत्ति दिखायी देती है।

'विषय वस्तु' के तुलनात्मक अध्ययन से ही रांगेय राघव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रामकथाओं को वस्तु-विषय बनाकर रचना करने वाले कवियों ने अपनी विश्व-दृष्टि और सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकता के अनुरूप संग्रह और त्याग की प्रक्रिया अपनायी है। वाल्मीकि रामायण में जो कथाएँ मिलती हैं उनमें से एक कथा है—शंबूक वध की कथा। यह कथा 'राम चरित मानस' में अनुपलब्ध है। क्यों अनुपलब्ध है? इस संग्रह और त्याग के पीछे कौन-सी प्रेरणा काम कर रही थी? इन सवालों के उत्तर 'रामचरित मानस' और उसके रचयिता की रचना प्रक्रिया और विश्वदृष्टि को समझने में मदद पहुँचा सकती है। एक ओर जहाँ कुछ कथाओं का तुलसीदास ने त्याग किया है तो दूसरी ओर उन्होंने कुछ ऐसे मार्मिक प्रसंग भी जोड़े हैं जो हिन्दी साहित्य जगत की अमूल्य निधि हैं। ऐसे प्रसंगों में से एक है—जनक वाटिका का प्रसंग। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस प्रसंग की अत्यन्त प्रशंसा की है। परन्तु उन्होंने यह पड़ताल करने की कोशिश नहीं की कि यह प्रसंग दूसरी राम कथाओं से किस तरह अलग या अनोखा है। दूसरी राम कथाओं में यह प्रसंग प्राप्त होता भी है या नहीं?

हिन्दी आलोचना के लिए एक नयी पद्धति से अत्यन्त रोचक अध्ययन प्रणाली का विकास रांगेय राघव ने किया था। उन्होंने हिन्दी के आलोचकों से आग्रह भी किया था कि 'वे इस कार्य को आगे बढ़ायें।''[41] लेकिन आगे बढ़ाने की बात तो दूर रही, हिन्दी

के आलोचकों ने स्वयं रांगेय राघव के इस महत्वपूर्ण कार्य की नोटिस नहीं ली। इस संदर्भ में प्रदीप सक्सेना का वह लेख अपवाद है जिसमें उन्होंने रांगेय राघव के इस कार्य की प्रशंसा करते हुए इसे 'स्कॉलर अकादमीशियन' के ढंग का कार्य माना है।[42] निस्संदेह हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना को ही नहीं, समस्त हिन्दी आलोचना को रांगेय राघव की यह अप्रतिम देन है।

9. धर्म की मानववादी परम्परा पर अन्वेषण

'तुलसीदास का कथा शिल्प' (1959) की ही भाँति रांगेय राघव का एक और भी महत्वपूर्ण विचारोत्तेजक कार्य है जो एक लेख की शक्ल में हिन्दी जगत के सामने प्रस्तुत होता है। लेख का नाम है–'धर्म की मानववादी परम्परा और विकास'। इस लेख में रांगेय राघव ने अत्यन्त गंभीरता से उपासना पद्धति और पूज्य देवताओं का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए यह दिखलाया है कि भारतीय समाज और संस्कृति में कोई देवता या उपासना पद्धति अविकृत रूप में पिछले 3-4 हजार वर्षों से हम तक नहीं पहुँची है। उसमें असंख्य संस्कृतियाँ, पूजा-पद्धतियाँ और देवताओं का योग और त्याग रहा है। रांगेय राघव जिस 'अंतर्भुक्ति' की चर्चा अपने प्रारम्भिक लेखन के दौर से ही करते आ रहे थे, उसे यहाँ रूपायित से करते जान पड़ते हैं। रांगेय राघव ने दिखलाया है कि "भारत में अनेक तरह के देवी-देवता हुए जो क्रमशः खो गये।"[43] लेकिन ऐसे भी देवी-देवता हुए हैं जिनका नाम कोई नहीं जानता था, वे अचानक परिवर्ती काल में प्रमुख हो उठते हैं। "आज से हजार-बारह सौ या ज्यादा से ज्यादा 1400 बरस पहले लिखे गये श्रीमद्भागवत जैसे महान ग्रन्थ में भी राधा का नाम कहीं ढूंढ़ने से भी नहीं मिलता लेकिन कुछ ही सदियों के बाद राधा और कृष्ण का नाम ऐसा मिला हुआ मिलता है कि हम उन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं देख सकते।"[44] यही नहीं "एक ही भगवान के भारत में अनेक-अनेक रूप भी दिखायी देते हैं।"[45] रांगेय राघव को कम आश्चर्य नहीं होता कि यहाँ, भारत में, किसी सम्प्रदाय के बारे में दृढ़ता से यह

नहीं कहा जा सकता कि यह अमुक देवता या पूजा पद्धति को ही मानता है। एक रोचक उदाहरण देते हुए रांगेय राघव लिखते हैं कि "गौड़ जाति के लोग अपने को हिन्दू नहीं मानते, लेकिन वे शिव की पूजा करते हैं। पीरों की पूजा हिन्दू करते हैं।"[46] यही नहीं, भारत में "एक ही आदमी महादेव के चैत्य में जल चढ़ाकर विष्णु मंदिर में आरती को दण्डवत करके, पीरों की मनौती मानता, चामड़ मैया को लोहबान जलाता, भैरों की परिक्रमा करके, जमुना जी को दीपदान करके, लौटते में रास्ते में साँड़ को नन्दी का रूप मानकर कुछ खिलाता हुआ लौटता है और रास्ते में वृक्षों और भूतों को प्रणाम करता आता है।"[47] अन्तर्भुक्ति का इससे रोचक और महत्वपूर्ण उदाहरण दूसरी जगह कहाँ मिल सकता है। यहाँ पहचानना मुश्किल है कि कौन-कौन सी पूजा पद्धतियाँ आपस में गुँथी हैं। कौन इनसे आर्य-अनार्य का विभाजन कर सकता है। रांगेय राघव ने इस अन्तर्भुक्त संस्कृति को हिन्दी के किसी भी आलोचक से अधिक पहले और गम्भीरता से पहचाना, रेखांकित किया और उससे प्रेरणा ग्रहण की।

10. ऋग्वेद : एक प्राचीन कविता

रांगेय राघव के अध्ययन और चिंतन में ऋग्वेद ही नहीं, उससे भी पूर्व की संस्कृतियाँ बार-बार उभर कर सामने आती है। परन्तु वे परम्परा और संस्कृति के अध्ययन में परंपरोन्मुखी नहीं होते, भविष्योन्मुखी रहते हैं। ऋग्वेद के ऐतिहासिक महत्व को मानते हुए भी वे यह रेखांकित करना नहीं भूलते कि "वैदिक काव्य में देवता दिखते हैं, चिन्तन मिलता है, हमें मनुष्य की रागात्मक अवस्था बहुत ही कम दिखती है और मनुष्य के विकास ने काव्य की परिभाषा के अन्तर्गत उसी स्थान को स्वीकार किया जिसमें मनुष्य के हृदय पक्ष का अधिकाधिक वर्णन हो।"[48] रांगेय राघव यथाशक्य निष्पक्ष दृष्टि से वेदों के अध्ययन में संलग्न होते हैं। साथ ही, यह प्रस्ताव भी रखते हैं कि "अब समय आ गया है कि वेदों का निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन हो।"[49] रांगेय राघव ने इस कमी को बहुत पहले ही महसूस कर लिया था, जिसका वर्णन

मुद्राराक्षस इन शब्दों में करते हैं, "यह भी दिलचस्प है कि हिन्दी में वेदों के प्रति गहरी श्रद्धा के बावजूद वेदों के हिन्दी भाष्य या अनुवाद की दिशा में विश्वसनीय काम नहीं ही हुआ।"[50] रांगेय राघव 1958 ई० में ही इसे लेकर चिन्तित थे, "हिन्दी में अभी तक वेदों का कोई अच्छा अनुवाद नहीं है।"[51]

डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने साहित्यिक जीवन के अन्तिम वर्षों को ऋग्वेद और उस युग के अध्ययन में विशेष रूप से लगाया है। लेकिन उनकी दृष्टि राहुल सांकृत्यायन और रांगेय राघव की अध्ययन-आलोचना दृष्टि से कितनी भिन्न है, इसे स्पष्टतया देखा जा सकता है।

राहुल सांकृत्यायन के 'ऋग्वैदिक आर्य' के तर्कों के समान ही रांगेय राघव के तर्क भी अत्यन्त संतुलित और तथ्यपरक है। रांगेय राघव ने तो स्पष्ट कहा है कि 'वेद में सब कुछ है, यह सिद्धान्त वास्तव में ठीक नहीं है। आधुनिक विद्वानों में यह भ्रम है कि वेद में अपने युग की हर बात मिलनी ही चाहिए।"[52] इसी भ्रम से मुक्त होने के लिए रांगेय राघव ने "निष्पक्ष दृष्टि" की बात कही है।

ऋग्वेद पर रांगेय राघव के इस लेख की यदि उनकी 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' (1953) तथा 'महायात्रा गाथा' (1960-64) के साथ मिलाकर पढ़ा जाये तो जो सामान्य प्रभाव पड़ेगा वह यही होगा कि रांगेय राघव ने भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास में उन तत्वों को रेखांकित किया है जिनमें मानवीय जिजीविषा और सांस्कृतिक अन्तर्भुक्ति निहित हैं। वे अतीत को 'शव' की तरह साधते हैं, भविष्य के लिए, स्वयं अतीतोन्मुखी नहीं होते। यह सत्य है कि रांगेय राघव के इतिहास-बोध में 'परम्परा' का प्रभाव भी कभी-कभी हावी हो जाता है, परन्तु यह साक्ष्यों और तथ्यों की कमी और अनुपलब्धता के कारण भी हो सकता है। राम विलास शर्मा जब ऋग्वेद का अध्ययन कर रहे होते हैं, उस समय तक इतिहास और पुरातत्व से सम्बन्धित नये-नये तथ्य और शोध प्रकाश में आ चुके होते हैं, लेकिन उनको आधार बनाकर किसी तर्कसंगत निष्कर्ष तक पहुँचने की बजाय वे "इतिहास भी पुराण की तरह लिखते हैं।"[53] ऋग्वेद के अध्येता राहुल सांकृत्यायन थे, रांगेय राघव थे और राम विलास शर्मा भी हुए हैं। तीनों ही हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकार-आलोचक हैं।

लेकिन यह आश्चर्य का विषय हो सकता है कि प्रगतिशील आलोचना और आन्दोलन के समय जो स्वयं को सर्वश्रेष्ठ मार्क्सवादी या प्रगतिशील सिद्ध कर रहे थे, वही तीन-चार दशकों के बाद सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी शक्तियों के द्वारा 'ऋषि'[54] घोषित किये गये। राहुल सांकृत्यायन और रांगेय राघव के विचार और उनका साहित्य सम्भवत: ऐसी स्वीकृति नहीं प्रदान करता कि वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा अपनाया जा सके। हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना के सन्दर्भ में यह कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि राहुल सांकृत्यायन और रांगेय राघव का साहित्य आज भी सभी प्रकार के अन्ध ाविश्वासों और प्रतिक्रियावाद से लड़ रहा है।

11. रांगेय राघव के विचारों की प्रासंगिकता

रांगेय राघव को हिन्दी आलोचना जगत में आलोचकों से सहानुभूति नहीं मिली। वे 'क्रूर उपेक्षा' के शिकार हुए। कई महत्वपूर्ण विचार, सिद्धान्त, अवधारणाएँ, स्थापनाएँ और व्याख्याएँ हिन्दी आलोचना को देने के बावजूद रांगेय राघव सन्दर्भ से बाहर रहे या रखे गये। यह रांगेय राघव के लिए जितना दुर्भाग्यपूर्ण है उससे कम हिन्दी आलोचना के लिए नहीं। क्योंकि रांगेय राघव के आलोचनात्मक और रचनात्मक साहित्य में ऐसे असंख्य विचार सूत्र बिखरे हैं जो आज भी हिन्दी आलोचना के लिए ही नहीं, समस्त भारतीय संस्कृति और समाज के अध्येताओं के लिए प्रासंगिक हैं। पुराने अनुभवों को ग्रहण करके उससे अपने को समृद्ध करके ही विचारों की यात्रा में आगे बढ़ना लाभदायक और युक्तिसंगत होता है।

रांगेय राघव ने 'हड़प्पा सभ्यता' से लेकर स्वतंत्र्योतर भारत तक के समाज और संस्कृति को कल्पना और विचारों से एक सूत्र में पिराने की कोशिश की है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक के कुछ महान व्यक्तित्वों की एक तस्वीर भी उन्होंने

औपन्यासिक जीवनियों के माध्यम से प्रस्तुत करने की कोशिश की है। हिन्दी साहित्य में राहुल सांकृत्यायन को छोड़कर सम्भवत: दूसरा ऐसा कोई साहित्यकार नहीं है जो रांगेय राघव के इस महत कार्य के सामने टिक सके। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि सभ्यता की जो सांस्कृतिक छवि रांगेय राघव ने प्रस्तुत की है उसमें आज भी बहुत कुछ इतना तर्क संगत और उत्प्रेरक है कि उसके आधार पर नये-नये अन्वेषणों और शोधों को प्रेरणा और गति मिल सकती है। 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' (1953) और 'महायात्राा गाथा' (1960-64) के युग विभाजन और पौराणिक नामों से किसी भी विद्वान को असहमति हो सकती है लेकिन आर्यों, अनार्यों और वैदिक-अवैदिक संस्कृति के बारे में जो विचार और स्थापनाएँ मिलती हैं वे आज भी अप्रासंगिक नहीं हुई हैं। इन पुस्तकों में जिस 'अवैदिक परम्परा' और 'अन्तर्भुक्ति' के अन्वेषण और रेखांकन की आकुल जिज्ञासा मिलती हैं, वह आज भी कम महत्वपूर्ण नहीं हुई है। दलित और स्त्री साहित्य को इससे प्रेरणा ही नहीं, बल्कि आधार भूमि भी प्राप्त होगी।

रांगेय राघव के समय से ही भारत में साम्प्रदायिक शक्तियों का उभार शुरू हो गया था। रांगेय राघव ने इसका उल्लेख भी किया है। उस समय सिर्फ हिन्दू साम्प्रदायिकता ही नहीं, मुस्लिम साम्प्रदायिकता भी अपने प्रचण्ड रूप में थी। भारत के आज़ाद होने के बाद यह साम्प्रदायिकता जहाँ जटिल और अधिक व्यापक हो गयी वहीं, आर्य-अनार्य का विवाद भी इसके साथ जुड़ गया। भारत का अपना पुराना सामाजिक क्रूरता का सिद्धान्त ब्राह्मणवाद तो मौजूद था ही। इन सारी अतार्किक सामाजिक विसंगतियों का असर हिन्दी साहित्य पर न पड़ना असम्भव था। हिन्दी साहित्य में ऐसे भी साहित्यकार हैं जो कबीर के एक पद के आधार पर उन्हें 'हिन्दुत्ववादी'[55] सिद्ध कर देना चाहते हैं। ऐसी परिस्थितियों में रांगेय राघव के आलोचनात्मक विचार और भी अधिक प्रासंगिक हो उठते हैं। ब्राह्मणवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था की उन्होंने जितनी अकुण्ठ आलोचना की है, वह किसी दूसरे प्रगतिशील आलोचक में दुर्लभ है। हिन्दी की

दलित आलोचना और भारत के समाज के लिए यह आलोचना आज भी प्रासंगिक है। उसी प्रकार आर्य-अनार्य का विवाद ही नहीं, सभी प्रकार की कट्टरपंथी, समाज को अन्धविश्वास की ओर मोड़ने वाली, एकाश्मक रूप देने वाली विचारधाराओं के सामने रांगेय राघव का 'अन्तर्भुक्ति' का सिद्धान्त है। यह उन सारे भ्रमों को खण्ड-खण्ड कर देता है जो विशुद्ध हिन्दुत्व या विशुद्ध आर्यत्व के आधार पर निर्मित होते हैं।

सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से रांगेय राघव के विचारों की प्रासंगिकता और महत्व तो है ही विशुद्ध साहित्यिक और अकादमिक दृष्टि से भी उनके विचार कम अर्थपूर्ण नहीं हैं। रस सिद्धान्त, यथार्थवाद, काव्य, कला, साहित्य और समाज, साहित्य और राजनीति, आलोचकों के दायित्व, आलोचना के मान दण्ड, सिद्धान्तों की यांत्रिकता आदि के सम्बन्ध में रांगेय राघव के विचार आज भी महत्वपूर्ण हैं। इन विषयों पर व्यापक चर्चा की जा चुकी है। यह भी दिखलाया जा चुका है कि इन विषयों पर रांगेय राघव के विचार न केवल दूसरे आलोचकों से अलग हैं बल्कि इतिहास ने उन्हें आज अधिक तर्कसंगत साबित कर दिया है।

1950 के आस-पास से ही रांगेय राघव रूस में 'वीर पूजा' के भाव को घातक मान रहे थे। क्या यह सोवियत संघ के विघटन का पूर्वानुमान-सा नहीं लगता है।

इस प्रकार रांगेय राघव के सम्पूर्ण साहित्य में ऐसे विचार, अवधारणाएँ, स्थापनाएँ और सिद्धान्त व्यवस्थित और अव्यवस्थित दोनों रूप में मिलते हैं, जिनसे प्रगतिशील आलोचना को प्रेरणा मिलती है और अब भी वे प्रासंगिक हैं। रांगेय राघव के बारे में कुछ प्रश्नों के सन्दर्भ में तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना में बहुत से ऐसे कार्य सिर्फ उन्होंने ही किये हैं जो दूरगामी प्रभाव डालने वाले सिद्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त रांगेय राघव के जो विचार मौलिक नहीं हैं, उनमें भी जो दृष्टि, पद्धति और आकुल जिज्ञासा का भाव मिलता है, वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रदीप सक्सेना ने ठीक ही लिखा है कि रांगेय राघव में अद्‌भुत प्रतिभा थी। राजेन्द्र

यादव तो रांगेय राघव को बाकायदा 'जीनियस' ही कहते हैं।[56] यह ठीक ही लिखा गया है कि रांगेय राघव का "सर्वोत्तम चिन्तन जो कि मार्क्सवादी आलोचना का भी श्रेष्ठ अंश है, केवल 30 से 35 वर्ष के बीच लिखा गया था। अवश्य ही उसकी तुलना इसी आयु के अन्य लेखकों के चिन्तन से की जानी चाहिए शायद इससे उनकी प्रतिभा का कुछ अंदाजा हो सके।"[57]

संदर्भ स्रोत

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-11
2. रांगेय राघव, गोरखनाथ और उनका युग, भूमिका
3. वही, भूमिका, क
4. पहल, अंक-64-65, अप्रैल-मई-जून, 2000, पृ.-320
5. नेमिचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित मुक्तिबोध रचनावली भाग-5 में इस लेख के बारे में जानकारी मिलती है कि इसका प्रकाशन मई 1955 ई० में 'नई दिशा' में हुआ था।
6. नेमिचन्द्र जैन (सं०), मुक्तिबोध रचनावली-5, पृ.-288
7. वही, पृ.-291
8. रांगेय राघव, संगम और संघर्ष, पृ.-39
9. डॉ. नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, पृ.-84
10. रांगेय राघव, काव्य, यथार्थ और प्रगति, पृ.-76
11. वही, पृ.-79
12. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ.-38
13. वही, पृ.-38
14. वही, पृ.-39
15. रांगेय राघव, काव्य, यथार्थ और प्रगति, पृ.-54
16. रांगेय राघव, काव्य, कला और शास्त्र, पृ.-52
17. डॉ. नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान, द्वितीय संस्करण, भूमिका
18. रांगेय राघव, समीक्षा और आदर्श, पृ.-23
19. वही, पृ.-23
20. वही, पृ.-24
21. वही, पृ.-25

22. पहल, अप्रैल-मई-जून, 2000, पृ.-335
23. रांगेय राघव, समीक्षा और आदर्श, पृ.-8
24. वही, पृ.-8
25. वही, पृ.-8
26. पहल, अंक-64-65, अप्रैल-मई-जून, 2000, पृ.-335
27. नेमिचन्द्र जैन (सं०) मुक्तिबोध रचनावली-5, पृ.-144
28. रांगेय राघव, समीक्षा और आदर्श, पृ.-29
29. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ.-313
30. वही, पृ.-313
31. वही, पृ.-312
32. रांगेय राघव, भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका, पृ.-43
33. वही, पृ.-43
34. रांगेय राघव, आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार, पृ.-16
35. वही, पृ.-15
36. वही, पृ.-15
37. वही, पृ.-17
38. रांगेय राघव, तुलसीदास का कथा-शिल्प, भूमिका
39. वही, भूमिका
40. वही, भूमिका
41. वही, भूमिका
42. पहल, अप्रैल-मई-जून, 2000, पृ.-325
43. रांगेय राघव, महाकाव्य विवेचन, पृ.-62
44. वही, पृ.-63
45. वही, पृ.-63
46. वही, पृ.-67

47. वही, पृ.-67
48. वही, पृ.-53
49. वही, पृ.-54
50. कृति-संस्कृति संधान, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2003, पृ.-98
51. रांगेय राघव, महाकाव्य विवेचन, पृ.-54
52. वही, पृ.-54
53. आलोचना, सहस्राब्दी अंक-5, अप्रैल-जून-2000, पृ.-247
54. पांचजन्य, 11 जून, 2000, पृ.-15
55. जनसत्ता, रविवासरीय, 17 अक्टूबर, 1999, रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख, 'यहां से कबीर को देखिये'
56. इस शोधार्थी से बातचीत के दौरान, जनवरी-2003 में।
57. पहल, अप्रैल-मई-जून, 2000, पृ.-340

परिशिष्ट - 1

सुलोचना रांगेय राघव से साक्षात्कार

धर्मनारायण : डॉ० रांगेय राघव की मृत्यु के बाद एक खामोशी-सी छाई थी, आपने चुप्पी तोड़ते हुए, 'पुनः' तथा 'रांगेय राघव : एक अंतरंग परिचय' के माध्यम से उन्हें नया जीवन दिया। क्या इन रचनाओं में ऐसा कुछ छूट गया है, जिस पर आप प्रकाश डालना चाहेंगी?

सुलोचना जी : वैसे तो, रांगेय राघव पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, लेकिन मैंने उनके लेखन के बारे में विस्तार से चर्चा नहीं की। मैं चाहती थी कि उनके उपन्यास तथा कहानियों की तैयारी के विषय में विस्तार से लिखूं (हालाँकि संक्षेप में चर्चा है भी) इसके अलावा, जो सबसे महत्वपूर्ण है, वह है–उनके कवि रूप की तलाश (क्योंकि लेखन की शुरूआत उन्होंने कविता से ही की थी)। उनका यह आग्रह भी था कि 'मुझे उपन्यासकार की बजाय कवि रूप में जाना जाए'। आखिर में उन्होंने 'उत्तरायण' लिखा, वह पूरा नहीं हो पाया। मांडवी पर भी एक काव्य लिखने की चाह अधूरी रह गई। ये सभी तथ्य यदि मैं इसमें दे पाती, तो शायद कुछ अधिक संतोष रहता।

धर्मनारायण : आपके लेखन से बार-बार पाठक के मन में यह प्रश्न उठता है कि आप रांगेय राघव से एक तरह से मनोग्रस्त जैसी हो गई थीं। आपने एक जगह लिखा भी है कि आपका संबंध पति-पत्नी से बढ़कर गुरु-शिष्या का हो गया था। आपने उनके जीवन तथा साहित्य के प्रत्येक पक्ष की मुक्त कंठ से

प्रशंसा की है, फिर भी, क्या आपको कभी उनका लेखकीय दिनचर्या या सामान्य व्यवहार से किसी परेशानी या कमी का अहसास नहीं हुआ? जैसा कि आपने एक बार गांव न ले जाने पर बुरा मानने का जिक्र भी किया है।

सुलोचना जी : हाँ ऐसा दो-एक बार हुआ है। मैंने इसका उल्लेख भी किया है। पहली दफा, तब, जब वे मुझे नैनीताल ले गए कि तुम पढ़ो। मेरी उम्र कम थी, डरती थी। मैं कतई जाना नहीं चाहती थी। मुझे गुस्सा इतना आया था कि चलती ट्रेन से कूदने के लिए दरवाजे तक पहुँच गई थी। उन्होंने मुझे पकड़ लिया तथा समझाया भी। दूसरा यह कि मैं बंबई जैसे शहर में पली थी–मुक्त वातावरण में। यहाँ मुझे घुटन का अहसास होता था। घूमने-फिरने की बात को लेकर हमारे बीच आए दिन नोंक-झोंक होती रहती थी। उनकी नाराज़गी के बाद सुलह करने मैं ही जाती थी, वे तो बहुत संकोची स्वभाव के थे।

थोडे बहुत मनमुटाव के अलावा हमारे बीच बहुत अच्छी 'ट्यूनिंग' थी। वे जब भी लिखते थे, मुझसे चर्चा करते थे। मुझे भी बहुत अच्छा लगता था। मेरी रुचि भी थी। इसलिए उनके लेखकीय कर्म ने कभी मुझे परेशानी में नहीं डाला।

धर्मनारायण : मनमोहन ठाकौर ने उनके स्त्री संबंधी नजरिये को 'निम्न मध्यवर्गीय' कहा है। आपके अनुभव इस बारे में क्या और कैसे हैं?

सुलोचना जी : स्त्रियों के विषय में वे बहुत ऊँचा दृष्टिकोण रखते थे, उनकी औपन्यासिक जीवनियां 'देवकी का बेटा' तथा 'लोई का ताना' इसके अच्छे उदाहरण हैं। वे मुझे हमेशा कहते थे–"तुम बिल्कुल स्वतंत्र हो, जैसे मैं हूं।" उन्होंने एक कविता-'परिचय' मेरे लिए लिखी थी, उसमें दिखलाया भी है-यह सब। वे स्त्री में पुरुष से अधिक शक्ति को आभासित करते थे। स्त्री और पुरुष के बीच अंतर उनके जीवन का हिस्सा कतई नहीं रहा। लेकिन स्त्री यदि 'लवंग' (घरौंदे की एक पात्र) के जैसा रूप दिखाती थी, तो उसे वे अनुचित मानते थे। 'पतझड़' में भी उन्होंने स्त्री की आलोचना की है। वे स्त्री के ओछेपन, छिछलेपन से नाखुश नजर आते हैं। उनकी नज़र में नारी का रूप ही दूसरा है–उदात्त और उच्चता की भावभूमि वाला।

धर्मनारायण : रांगेय राघव दमितों, शोषितों के प्रति प्रतिबद्ध थे। उन्होंने अपने रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों प्रकार के साहित्य में जातिवाद, ब्राह्मणवाद की निर्मम आलोचना की है। लेकिन दलित साहित्य और साहित्यकारों ने उनके योगदान की 'नोटिस' नहीं ली है? उनके कबीर विषयक विचार भी अत्यंत तार्किक हैं, फिर भी, क्या कारण है कि उनके महत्वपूर्ण योगदानों की उपेक्षा हुई?

सुलोचना जी : आप जानते ही हैं कि लेखन में भी कई ऐसे तबके हैं जिनमें खराब किस्म की 'पॉलिटिक्स' चलती रहती है। रांगेय राघव ने जो बात पहले कह दी थी, वह आज खरी उतर रही है।

वे अक्सर कहा भी करते थे कि–"आज नहीं, मेरे मरने के बाद साहित्य जगत को समझ में आएगा कि रांगेय राघव का साहित्य क्या चीज़ है?''

धर्मनारायण : कहा जाता है कि उनकी रचनाएं 'जिद' या 'आग्रह' के कारण लिखी गई हैं–प्रतिक्रिया स्वरूप। जैसे 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड' रामविलास शर्मा को प्रत्युत्तर देता प्रतीत होता है, तो 'दिव्या' का जवाब 'चीवर' लगता है। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' और 'आनंदमठ' के सामने 'सीधा सादा रास्ता' और 'विषादमठ' खड़े नजर आते हैं?

सुलोचना जी : नहीं, मैं ऐसा नहीं समझती। मैं इसे प्रत्युत्तर नहीं बल्कि एक दूसरा आयाम दिखाने की कोशिश मानती हूँ। आपने 'टेड़े मेड़े रास्ते' का एक आयाम देखा है। अब वह नहीं है, अब 'सीधा सादा रास्ता' का दूसरा आयाम है। इसी प्रकार बंगाल में अकाल के समय जब वे रिपोर्टर की हैसियत से गए थे तो वहाँ आनंद कहाँ था। हालात इतने खराब थे कि एक मुट्ठी चने के लिए एक महिला उनका हाथ पकड़कर खुद को ले चलने के लिए प्रार्थना की थी। 'तूफानों के बीच' में उन्होंने यह दिखाया भी है। हो सकता है, बंकिम चंद्र ने वहां आनंद देखा हो; रांगेय राघव ने तो वहाँ विषाद ही विषाद देखा था। जहाँ तक राम विलास शर्मा का सवाल है तो उन्होंने जो मुद्दे उठाए थे, जरूरी नहीं कि उनसे सभी सहमत हों। रांगेय राघव को जो उचित और तार्किक लगा, वही लिखा। हर कृति में वे स्वतंत्र रूप से दिखाई देते हैं। प्रतिक्रिया नहीं

सवाल दृष्टि-भेद का था। वैसे भी रांगेय राघव आँख मूंदकर घिसी-पिटी लीक पर चलने वालों में न थे।

धर्मनारायण : प्रेमचंद और रेणु ने गांव को कुरूपता और सुंदरता दोनों का चित्रण किया है। वहाँ शोषण है, गरीबी है, साथ ही सुंदरता और सरसता भी है। परंतु रांगेय राघव के गाँव ऐसे हैं, जहाँ धूर्तता, चालबाजी, कुरूपता और तिकड़म के नमूने ही नज़र आते हैं। गाँव में उन्हें सिर्फ बुराई ही नज़र आई हैं?

सुलोचना जी : इससे सहमत नहीं हुआ जा सकता। 'कब तक पुकारूं' के प्यारी और कज़री में कितना प्यार होता है। वे सौत हैं। इसी प्रकार 'पथ का पाप' और 'राई और पर्वत' में भी 'ब्लैक एंड व्हाइट' शेड्स हैं। रांगेय राघव का गांव बदल रहा था। उसके बदलाव को रांगेय राघव ने पकड़ा तथा वर्णित किया। उन्होंने गाँव को जिया है। नटों के साथ उन्होंने दिन बिताए हैं। गाँव को उन्होंने खुली आँखों से देखा तथा कैनवास पर उतारा। 'पथ का पाप' का जो किशन लाल है, वह वास्तव में एक व्यक्ति था, कल्पना नहीं।

धर्मनारायण : रांगेय राघव ने एक तरह से अपने साहित्य के माध्यम से 'सभ्यता समीक्षा' की है। लेकिन उन पर 'परंपरा प्रेमी' होने या 'परंपरा की ओर पलायन' का भी आरोप लगाया जाता है?

सुलोचना जी : रामविलास शर्मा जी ने रांगेय राघव को कभी भी सही रूप में देखने की कोशिश नहीं की। कोई 'पॉजिटिव' बात नहीं रखी। रामविलास जी ने कुछ कह दिया तो बस, उनका अनुकरण होता रहा। चलती भी उन्हीं की थी।

धर्मनारायण : राजेन्द्र जी ने लिखा है कि रामविलास जी ने अपना परशु उठाया और मही को वीर विहीन (राहुल सांकृत्यायन, प्रकाश चंद्रगुप्त, यशपाल) करते हुए रांगेय राघव पर अपने 20 पेज के एक लेख से प्रहार किया। उस लेख ने 'अतिसंवेदनशील' रांगेय राघव को बहुत परेशान किया था। क्या डॉ० साहब इस प्रकार की साहित्यिक चिंताओं में आपको सहभागी बनाते थे?

सुलोचना जी : नहीं, अधिकतर तो नहीं। बातों से मैं समझ पाती थी कि कुछ है जरूर। आगरा उन्होंने इसी वजह से छोड़ा तथा गांव में आ गए थे। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, राजेंद्र यादव तथा घनश्याम अस्थाना सभी अच्छी तरह जानते थे। अस्थाना तो जितना रांगेय राघव के करीब थे, उतना ही रामविलास शर्मा के निकट भी थे।

धर्मनारायण : आपको नहीं लगता कि दो नामसिद्ध साहित्यकारों के इस प्रकार के राग-द्वेष से प्रगतिशील आलोचना को काफी क्षति हुई है?

सुलोचन जी : आलोचकों की ऐसी राय है। मैं तो आगरे की घटनाओं के बाद आई हूँ। इसलिए निर्णायक रूप से कुछ नहीं कह सकती। हाँ, इतना दोहराऊंगी कि आगरा उन्होंने इसलिए छोड़ा कि वहाँ का वातावरण उन्हें जँच नहीं रहा था।

धर्मनारायण : डॉ० रांगेय राघव पर सबसे बड़ा आरोप लगाया जाता है कि उनमें 'नस्लवादी' आग्रह था। 'राह के दीपक' में संकलित और 'विशाल भारत' के दक्षिण भारत विशेषांक में छपी कविता की वह पंक्ति इस आरोप के पक्ष में उद्धृत की जाती है जिसमें तिरुपति से नील यमुना तीर तक आपने द्रविण पूर्वजों की जय यात्रा का स्मरण किया गया है? इसी प्रकार हड़प्पा सभ्यता के विनाश में आर्य-द्रविण संघर्ष को भी रेखांकित किया जाता है। 'आजकल' (अप्रैल-2000) पत्रिका में रामविलास जी ने कहा है कि रांगेय राघव जब-तब द्रविण रक्त की बात करते हैं। राहुल जी के बारे में तो उन्होंने स्पष्ट ही कहा कि वे 'नस्लवादी' या 'रेस कांशियस' थे। इस प्रकार के आरोपों पर आपकी क्या टिप्पणी है?

सुलोचना जी : नहीं.....नहीं, रांगेय राघव ने नस्लवादी दृष्टि से नहीं लिखा है। उन्होंने उसी का वर्णन किया है जो घटा है। इतिहास साक्षी है कि द्रविण सभ्यता ही थी मोहनजोदड़ों की सभ्यता....। आर्यों ने आक्रमण किया था। अब नई-नई 'थ्योरीज' आ रही हैं, उनके समय में यही 'थ्योरी' थी। इसके आधार पर ही उन्होंने निष्कर्ष दिए। वे दक्षिण मूल के थे। लेकिन दक्षिण से उनका वैसा संपर्क न था। सैंकड़ों वर्षों पहले उनके पूर्वज उत्तर भारत आ गए थे। आलोचना करते समय एकांगी दृष्टिकोण अपनाएंगे तो नकारात्मक ही दिखेगा। अगर आप चीजों को उनकी संपूर्णता में देखेंगे तो उनका सकारात्मक मूल्यांकन होगा। वैसे भी,

आयंगर ब्राह्मण उत्तर से दक्षिए गए थे। मैं समझती हूँ रामविलास जी ने अच्छी तरह से समझा नहीं है।

धर्मनारायण : रांगेय राघव की रचनाओं के अनुवाद के विषय में कुछ जानकारी दीजिए?

सुलोचना जी : 'मुर्दों का टीला' और 'कब तक पुकारूं' का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ है। उनकी कुछ कहानियों का अनुवाद फ्रांसीसी भाषा में भी हुआ है। 'गदल' का भी अनुवाद करने का प्रयास किया गया है। भारतीय भाषाओं में, कन्नड़ में, इनके उपन्यासों और कहानियों का अनुवाद हुआ है। मराठी में अनुवाद की चर्चा चल रही है। मैं तो कहती हूँ, सभी भारतीय भाषाओं में रांगेय राघव के साहित्य का अनुवाद हो जाए तो एक प्रकार की साहित्यिक अंतरंगता बढ़े।

धर्मनारायण : रांगेय राघव के अनुवादकों को अनुवाद के समय कठिनाइयाँ तो आयी ही होंगी, विशेष रूप से, जीवन्त भाषा के अनुवाद में.....

सुलोचना जी : आप ठीक कह रहे हैं। इसके लिए अगाध अध्ययन आवश्यक है। 'गदल' के अनुवाद में मैंने सुझाव दिया था कि शुरूआत में आई गाली को ज्यों का त्यों रख दिया जाए तथा कोष्ठक में उसका अर्थ दे दिया जाए।

धर्मनारायण : डॉ० रांगेय राघव की कविता, कहानी, उपन्यास ही नहीं, रिपोर्ताज विधा पर भी गहरी पकड़ थी (अमृत राय के शब्दों में रिपोर्ताज के प्रारंभकर्ता रांगेय राघव ही हैं) और उन्हें

इन विधाओं में ख्याति भी मिली थी। परंतु आलोचक के रूप में उन्हें वह सम्मान और ख्याति नहीं मिली जिसके वे हकदार थे। इस पर आपकी क्या राय है?

सुलोचना जी : जी हाँ, आज मैं देखती हूँ कि पुराने लेखकों के जिक्र में (पत्रिकाओं, अखबारों, किताबों में) रांगेय राघव नदारद हैं। एक व्यक्ति ने छोटी सी अवधि में इतना कुछ लिखा, जिस पर विस्मय हो सकता है। इंडोलोजी तक में उनका गहन अध्ययन था। या तो आलोचक उन्हें समझ नहीं पाए या फिर कोई और कारण है? आप शोधार्थी हैं, आप इस अनसुलझी गुत्थी पर ध्यान दें। हाँ हाल ही में प्रदीप सक्सेना के 'पहल' में प्रकाशित लेख ने एक सुगबुगाहट जगाई है। इससे कुछ उम्मीद बंधी है।

धर्मनारायण : देश के वर्तमान हालात पर डॉ० साहब की क्या प्रतिक्रिया होती? उन्होंने शोषणमुक्त अंतर्भुक्त संस्कृतियों का सपना देखा था....

सुलोचना जी : वे बहुत विचलित होते। वे तत्कालीन परिस्थितियों पर भी चिंतित रहते थे। हमारी दिमागी अपंगता, आने वाली पीढ़ी के लिए रचे जाने वाले संसार पर उन्हें बहुत कोफ्त होता। आप समझ सकते हैं कि उस व्यक्ति ने संस्कृति की कितनी उदात्त और भव्य कल्पना की थी। उसको यदि कोई चीर-फाड़ दे तो उन्हें कैसा लगता, यह आप महसूस कर सकते हैं।

धर्मनारायण : अन्त में, एक सवाल यह पूछना चाहूंगा कि रांगेय राघव को लेकर आपकी अगली योजना क्या है?

सुलोचना जी : पहले तो मैं उनके अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करना चाहती हूँ। परंतु प्रकाशकों के असहानुभूतिपूर्ण रवैये से आप परिचित होंगे ही। रांगेय राघव की कई पुस्तकें प्रकाशकों के पास हैं, न तो वे उन्हें लौटाते हैं और न ही छापते हैं। मेरे पास अभी 'किरणे बुहार ले' और 'श्यामला' दो कविता संग्रह हैं इन्हें छपवाना है। मैं तो चाहती हूँ यदि कोई प्रकाशक मन लगाकर छापे तो रांगेय राघव की सारी रचनाएँ छपवायी जा सकती हैं।

मेरी हार्दिक इच्छा तो यह भी है कि उनकी उत्कृष्ट कृतियाँ न केवल 'कब तक पुकारूँ' की भांति मीडिया में पहुँचे और प्रसारित होवें बल्कि इन्टरनेट के माध्यम से सारी दुनिया को उपलब्ध हों।

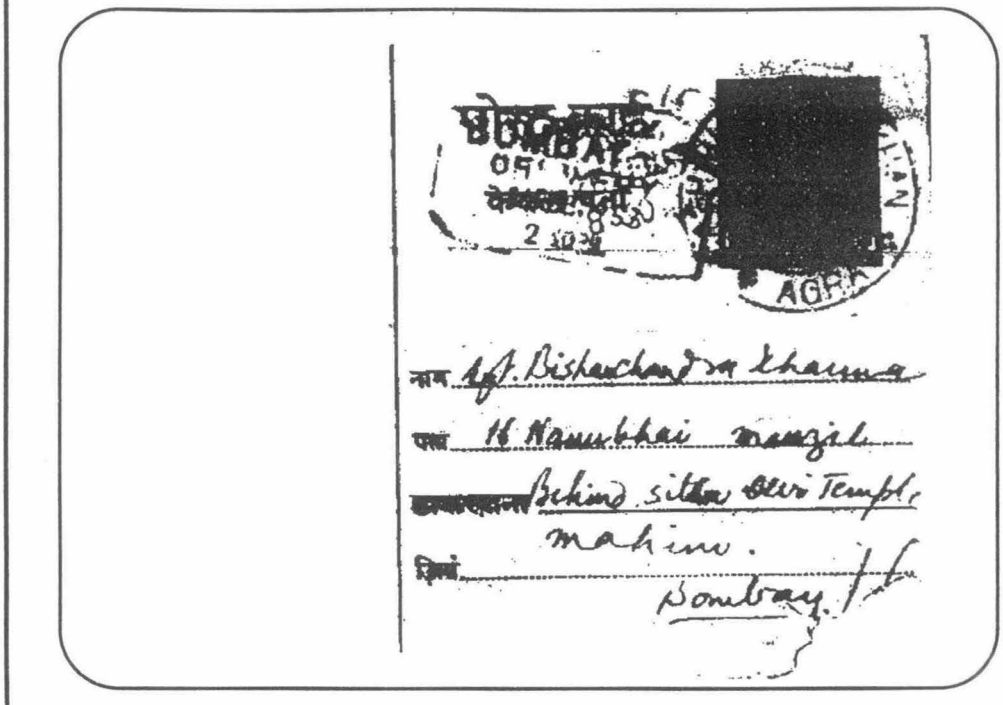

Lt. Bishambhar Khanna
H Nanubhai Manzil
Behind Sitla Devi Temple,
Mahim.
Bombay.

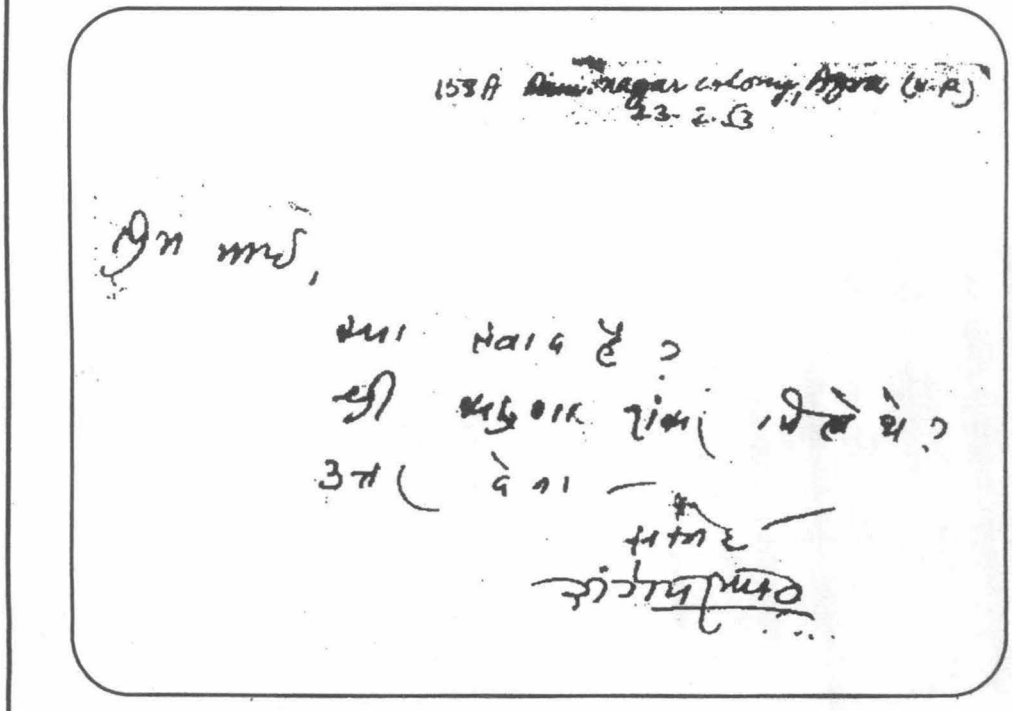

153A Ram Nagar colony, Agra (U.P.)
23-2-53

Dear Sir,

Your Naig है ?
श्री Madhukar रांगेय राघव थे ?
उत्तर देना —

Thanks
रांगेय राघव

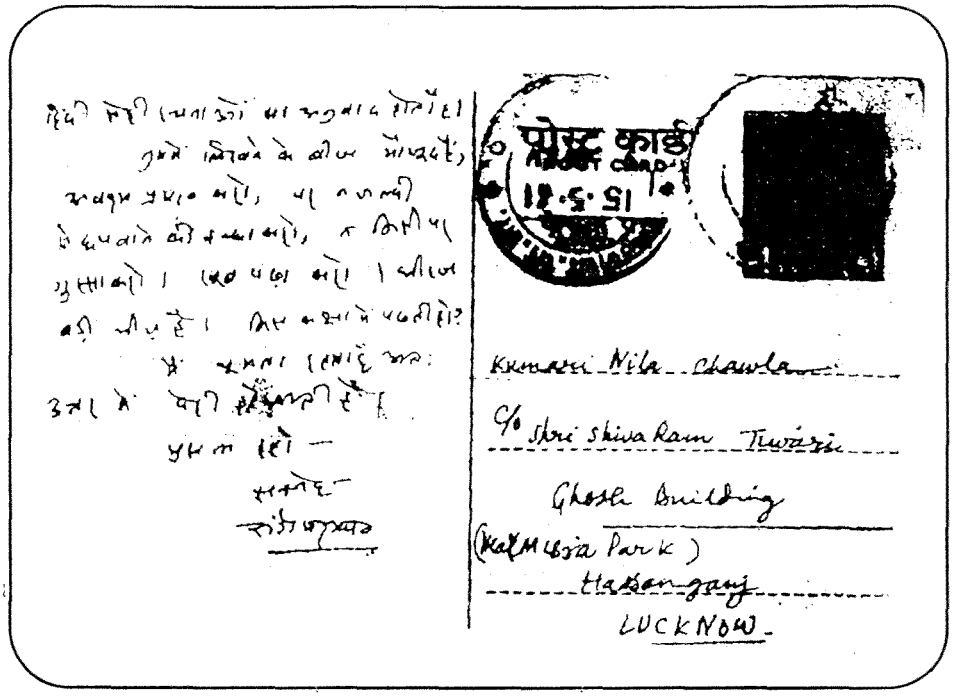

Kumari Nila Chawla
C/o Shri Shiva Ram Tiwari
Ghosh Building
(Kalmegha Park)
Hasan ganj
LUCKNOW.

15.5.61

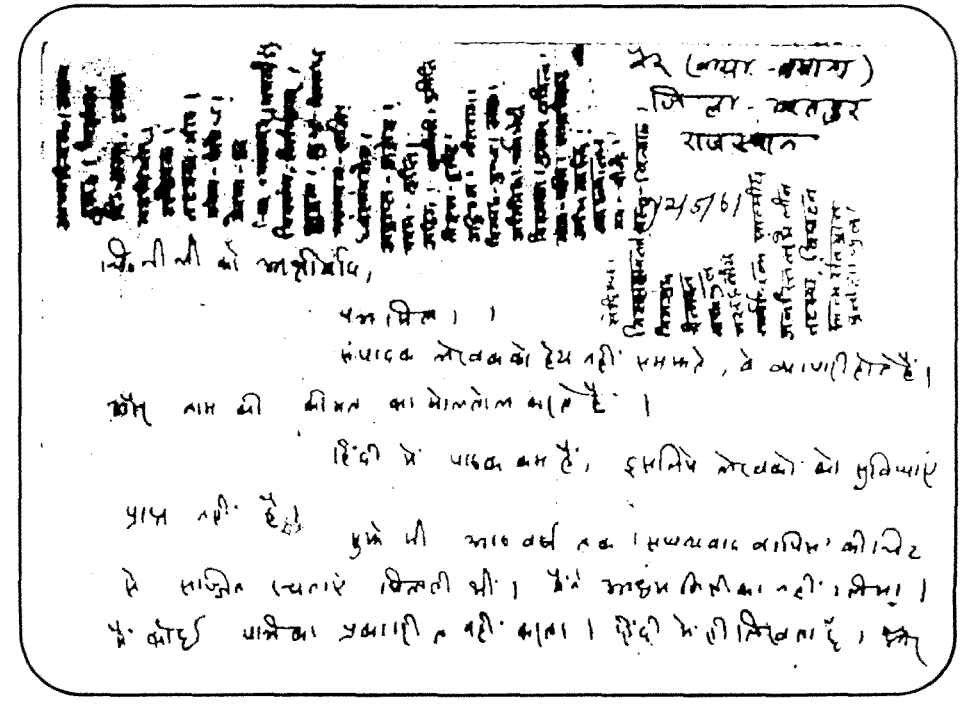

जी.सी.सी. की अधीक्षिका,

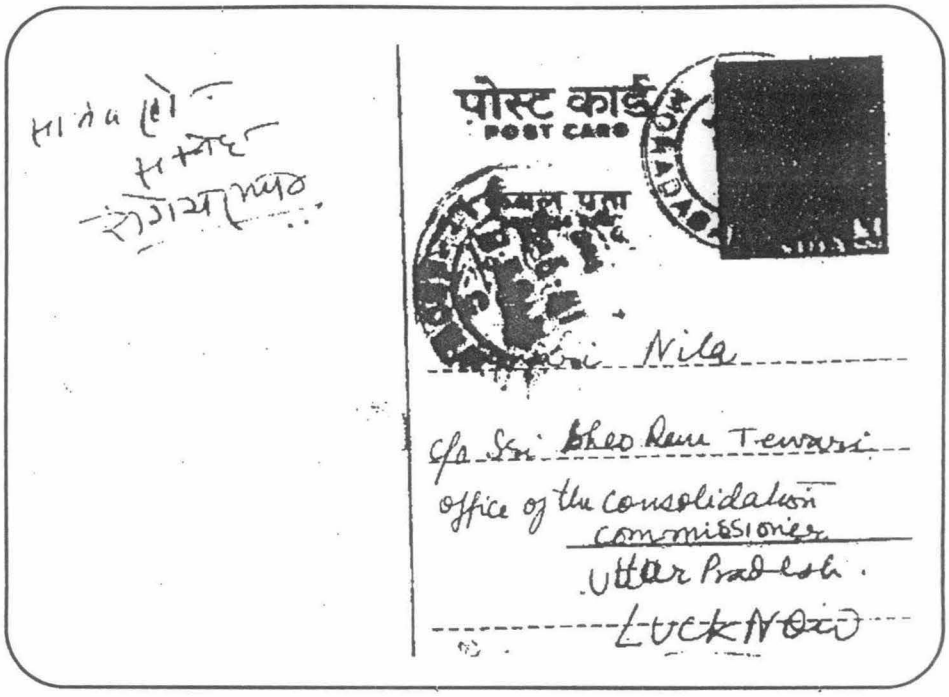

પોસ્ટ કાર્ડ
POST CARD

Chi. Nila

C/o Sri Bheo Ram Tewari
Office of the consolidation
commissioner
Uttar Pradesh.
Lucknow

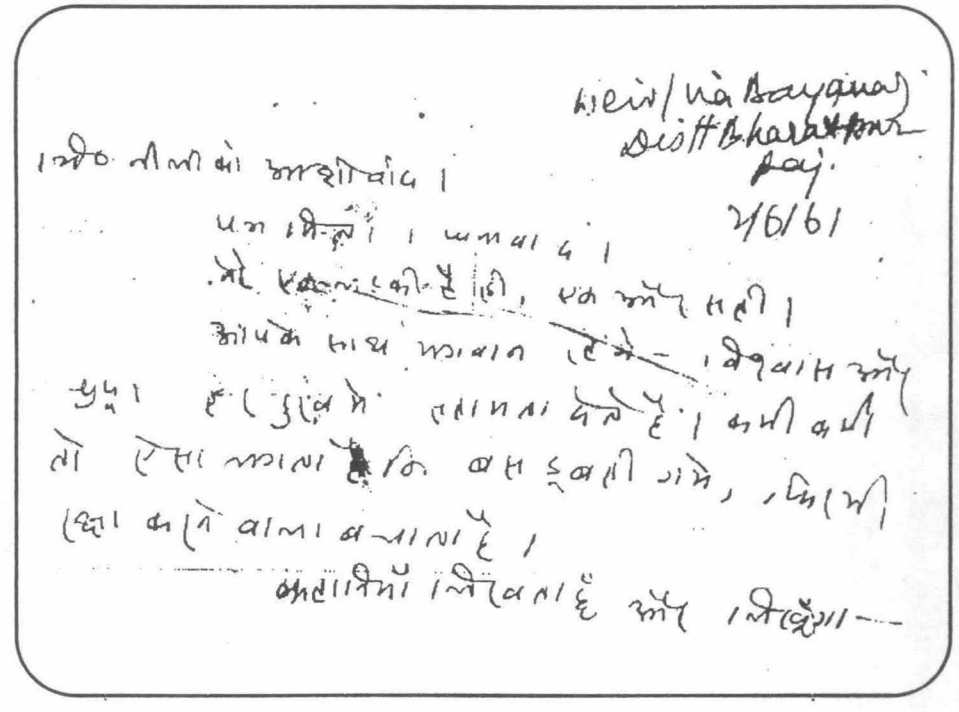

Bijaur / Via Bayana
Distt Bharatpur
Raj.
2/6/61

ચિ. નીલા ને આશીર્વાદ ।

પત્ર મીલ્યો । આનંદ થયો ।

મારે ખબર તો હતી, પણ આજે નહીં ।

આપણે સાથ આવ્યા તેને - વેરવાઈ ગયે

પુષ્પા ને [illegible] ના પત્રો આવે છે । બધી બધી

તો ઠેકાણા આવ્યા કે જ્યાં ત્યાં ફરવાનું ગમે, બિમારી

[illegible] ના ઠેકાણા આવ્યા છે ।

બાકીની [illegible] ને આવે ત્યારે ।

Kumari Nila Chawla
c/o Zabbar Showhouse
Sadar Bazar,
Ramkhet,
Kumaon

Ranbaglh.
29.5.62

[illegible]

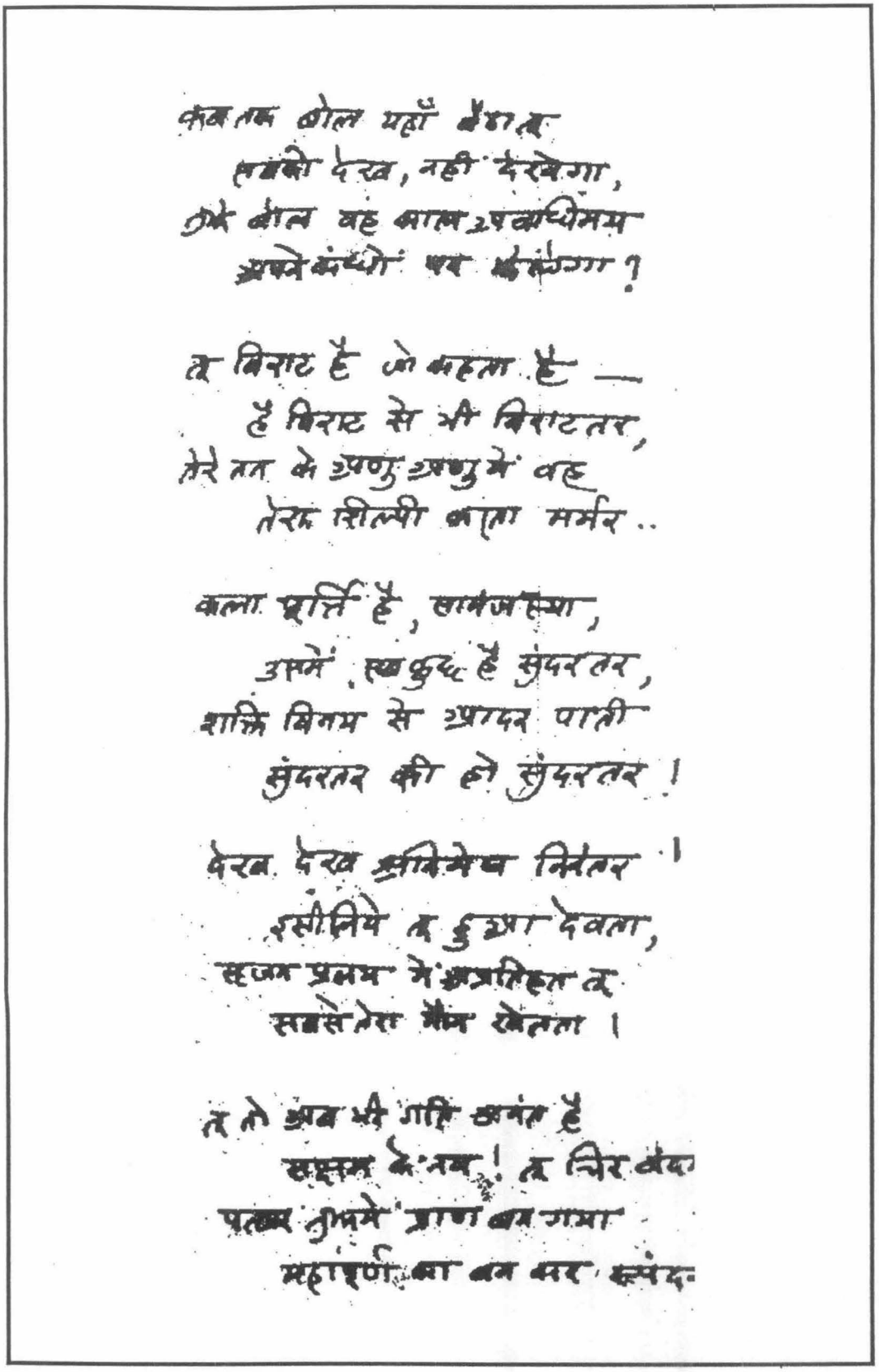

संदर्भ ग्रन्थ सूची

प्राथमिक स्रोत

1. रांगेय राघव : भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका
   भारत पब्लिशिंग हाउस, अलीगढ़, 1946

2. रांगेय राघव : प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास
   आत्माराम एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1953

3. रांगेय राघव : संगम और संघर्ष
   किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1953

4. रांगेय राघव : प्रगतिशील साहित्य के मानदंड
   सरस्वती पुस्तक सदन आगरा, प्रथम संस्करण, 1954

5. रांगेय राघव : समीक्षा और आदर्श
   विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण, 1955

6. रांगेय राघव : काव्य, कला और शास्त्र
   विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, प्रथम संस्करण, 1955

7. रांगेय राघव : भारतीय संत परंपरा और समाज
   किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1884 शकाब्द

8. रांगेय राघव : तुलसीदास का कथा-शिल्प
   म० प्र० साहित्य प्रकाशन, बिलासपुर, संस्करण, 1959

9. रांगेय राघव : आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और शृंगार
   राजपाल एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1961

10. रांगेय राघव : आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1962

11. रांगेय राघव : कालविजय
साहित्य कार्यालय, आगरा

12. रांगेय राघव : महाकाव्य विवेचन
सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर, प्रथम
संस्करण-1958, आवृत्ति-1980

13. रांगेय राघव : गोरखानाथ और उनका युग
राजपाल एंड संस, दिल्ली
प्रथम संस्करण, 1962

द्वितीयक स्रोत

1. अवस्थी, रेखा : प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1978

2. बाशम, ए० एल० : अद्भुत भारत, शिवालाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, संशोधित हिंदी संस्करण, 1998

3. Briggs, George Weston : Gorakhanath and the Kanphata Yogi; Motilal Banarsidas, Delhi, Reprint, 1989

4. चेलिशेव, य० प० : प्रगतिशील भारतीय साहित्यकारों के छवि चित्र किताब घर, दिल्ली; प्रथम संस्करण, 1985

5, चौहान, शिवदान सिंह : हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1961

6. चौहान, शिवदान सिंह : प्रगतिवाद प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, प्रथम संस्करण, 1946

7. चौहान, शिवदान सिंह : साहित्यानुशीलन आत्माराम एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण,1955

8. चौहान, शिवदान सिंह : आलोचना के मान रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1958

9. विष्णुचंद्र शर्मा (संपा.) : साहित्य की समस्याएँ स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2001

10. चौहान, कर्ण सिंह : प्रगतिवादी आंदोलन का इतिहास
नेहा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1985

11. चौहान, कर्ण सिंह : हिन्दी में प्रगतिशील आंदोलन का आलेखात्मक इतिहास
नेहा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1985

12. डॉ० धर्मवीर : कबीर के आलोचक
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण

13. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्य की भूमिका
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1998

14. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1999

15. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : कबीर
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण, 1999

16. गंगावणे, कमलाकर : कथाकार रांगेय राघव
साहित्य रत्नालय, कानपुर, प्रथम संस्करण, 1982

17. गुप्त, प्रकाशचंद : हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा
किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1957

18. जैन, नेमिचंद्र (संपा०) : मुक्तिबोध रचनावली भाग-5
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण, 1986, पहली आवृत्ति, 1998

18. गुप्त, नेमिचंद्र (सं०) : हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण, 1992

19. झा, डी० एन० : प्राचीन भारत : एक रूपरेखा
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पंद्रहवाँ मुद्रण-2003

20. कमलेश्वर : अपनी निगाह में
शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982

21. लिम्बाले, शरण कुमार : दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

22. मधुरेश : रांगेय राघव
साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1990

23. मार्क्स और एंगेल्स : कला और साहित्य
प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981

24. मुक्तिबोध, गजानन माधव : कामायनी : एक पुनर्विचार
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
चतुर्थ प्रकाशन, 1981

25. नागर, नरोत्तम (अनुवादक) : दर्शन, साहित्य और आलोचना
परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण, 2002

26. डॉ० नगेन्द्र (प्र० सं०) : हिन्दी अभिनव भारती
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, दूसरा संस्करण, 1973

27. पांडेय, मैनेजर : साहित्य के समाज शास्त्र की भूमिका
हरियाणा हिंदी अकादमी, चंडीगढ़,
प्रथम संस्करण, 1989

28. पांडेय, मैनेजर : साहित्य और इतिहास दृष्टि
पीपुल्स लिटरेसी, 517 मटिया महल दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981

29. पांडेय, मैनेजर : शब्द और कर्म
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1997

30. पांडेय, मैनेजर : अनभै साँचा
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002

31. पांडेय, मैनेजर : भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2001

32. राय, अमृत : नई समीक्षा
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1977

33. रजनीश, गोविंद : रांगेय राघव का रचना संसार
मैकमिलन प्रा० लि०, दिल्ली, संस्करण, 1982

34. रहबर, हंसराज : प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन
नवयुग प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1966

35. रांगेय राघव : तूफानों के बीच
सरस्वती प्रेस, बनारस,
प्रथम संस्करण, फरवरी-1946

36. रांगेय राघव : मुर्दों का टीला
किताब महल, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, 1963

37. राघव, सुलोचना रांगेय (सं०) : रांगेय राघव ग्रंथावली, भाग 1-10
राजपाल एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982

38. राघव, सुलोचना रांगेय (सं०) : रांगेय राघव की संपूर्ण कहानियां दो भाग,
अलीक प्रकाशन, जयपुर, संस्करण, 1996

39. राघव, सुलोचना रांगेय : रांगेय राघव : एक अंतरंग परिचय
राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण, 1997

40. सांकृत्यायन, कमला (सं०) : राहुल वाङमय, खंड-3, 7 एवं 8
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994

41. सांकृत्यायन, कमला, डॉ. खेमचन्द्र आनन्द (सं०) : राहुल सांकृत्यायन के श्रेष्ठ निबंध
प्रवीण प्रकाशन, महरौली दिल्ली,
प्रथम संस्करण, 1982

42. सांकृत्यायन, राहुल : राहुल निबंधावलि
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पहला संस्करण, 1970, तीसरी आवृत्ति, 1997

43. सरकार, सुमित : आधुनिक भारत
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1999

44. शर्मा, हेमंत (सं०) : भारतेन्दु समग्र
हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशंस प्रा० लि०, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2000

45. शर्मा, मक्खन लाल (सं०) : पाश्चात्य काव्यशास्त्र : मार्क्सवादी परंपरा
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

46. शर्मा, रामविलास : प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ
विनोद पुस्तक मंदिर, हास्पिटल रोड, आगरा, प्रथम संस्करण, मार्च, 1954

47. शर्मा, रामविलास : मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1984

48. शर्मा, रामविलास : परंपरा का मूल्यांकन
राजकमल प्रकाशन दिल्ली, संस्करण, 1981

49. शर्मा, रामविलास : आस्था और सौंदर्य
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1990

50. शर्मा, रामविलास : इतिहास दर्शन
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995

51. शर्मा, रामविलास : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1977

52. शर्मा, रामविलास : भारत की भाषा समस्या
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा संस्करण, 1989

53. शर्मा, रामविलास : भारतीय सौंदर्य बोध और तुलसीदास
साहित्य अकादमी नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002

54. शर्मा, रामविलास : गांधी, अंबेदकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं

वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2000

55. शास्त्री, अशोक (सं०) : रांगेय राघव की संपूर्ण औपन्यासिक जीवनियाँ

पंचशील प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992

56. शर्मा, पद्म सिंह : मैं इनसे मिला

डॉ० कमलेश स्मृति प्रकाशन संस्थान, आगरा, प्रथम संस्करण, मई, 1988

57. सीदीरोव, ऐ० (संकलनकर्ता) : साहित्य और सौंदर्यशास्त्र

रादुगा प्रकाशन, मास्को एवं साहित्य अकादमी दिल्ली, 1987

58. सिंह, चंद्रबली : लोकदृष्टि और हिंदी साहित्य

सत्-साहित्य प्रकाशन, वाराणसी, जुलाई, 1956

59. सिंह, नामवर : आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1998

60. सिंह, नामवर : दूसरी परंपरा की खोज

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1983, तृतीय आवृति, 2000

61. सिंह, नामवर : कविता के नए प्रतिमान

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, चौथा संस्करण, 1990, चौथी आवृत्ति, 1999

62. सुधांशु, डॉ० लक्ष्मीनारायण तथा डॉ० संपूर्णानंद (प्र० सं०) : हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास त्रयोदश भाग, काशी बृहद नागरी प्रचारणी सभा, प्रथम संस्करण, 2022 वि० स०

63. शुक्ल, रामचंद्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 34 वां संस्करण, 2056 वि० सं०

64. शुक्ल, रामचंद्र : रस मीमांसा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, षष्ठ संस्करण-2048 वि. सं.

65. शुक्ल, रामचंद्र : जायसी ग्रंथावली नागरी प्रचारिणी सभा, काशी 16वां संस्करण, 2035 वि. सं.

66. भ्रमर गीत सार (संपा०) : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, सं० 2040 वि

67. चिंतामणि : इण्डियन प्रेस प्रा० लिमिटेड, चतुर्थ संस्करण, 2040 वि० सं०

68. सुमन, क्षेमचंद्र : रेखाएँ और संस्मरण वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1976

69. सुरजीत, हरकिशन सिंह : An Outline History of the Communist Movement in India, N.B.C., New Delhi, Sep. 1993

70. थापर, रोमिला : भारत का इतिहास
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण, 1975, चौदहवीं आवृत्ति, 2000

71. त्रिपाठी, विश्वनाथ : हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पांचवी आवृत्ति- 2000

72. उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ (सं०) : परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1999 ,

73. उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ : बिन्दु प्रति बिंदु : समकालीन आलोचना
पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, 1983

74. वाल्मीकि, ओमप्रकाश : दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र
राधाकृष्ण प्रकाशन-7, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001

75. यादव, राजेंद्र : औरों के बहाने
अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1987

पत्र-पत्रिकाएं

1. आलोचना : (जनवरी-मार्च, 1953 से अप्रैल-जून, 2001 तक के विभिन्न अंक)
   संपादक : शिवदान सिंह चौहान, डॉ० रघुवंश, धर्मवीर भारती, नामवर सिंह
   राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

2. आजकल : अप्रैल, 2000
   संपादक : सुभाष सेतिया
   प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली

3. पहल: (मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र 1976, मार्क्सवादी आलोचना विशेष, अप्रैल-मई-जून, 2000)
   संपादक : डॉ० कमलाप्रसाद, डॉ० मैनेजर पांडेय, ज्ञानरंजन और प्रदीप सक्सेना
   पहल प्रकाशन, जबलपुर

4. साहित्य संदेश : (जनवरी-फरवरी, 1953 से जनवरी-फरवरी, 1963 तक के विभिन्न अंक)
   संपादक : गुलाबराय, सत्येन्द्र, महेन्द्र
   साहित्य रत्न भंडार, आगरा

5. निष्ठा : अंक-4, 1966
   संपादक : त्रिलोकी प्रसाद
   आत्माराम एण्ड संस, जयपुर

6. युवक : अंक-12, 1962
   प्रधान संपादक: प्रणवीर चौहान
   संपादक : राजेश्वर प्रसाद सक्सेना
   युवक, आगरा, दिसम्बर, 1962

7. कल्पना : जनवरी, 1955 व सितम्बर, 1960
   संपादक : आर्येन्द्र शर्मा
   कल्पना कार्यालय, हैदराबाद

8. ज्ञानोदय : जुलाई, 1960
   संपादक : लक्ष्मीचन्द्र जैन, शरद देवड़ा
   भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

9. हंस : 1940 से 1955 तक के विभिन्न अंक
   संपादक : अमृत राय
   इलाहाबाद

10. समालोचक : मार्च, 1958
प्रधान संपादक : डॉ० रामविलास शर्मा, संपादक:राजनाथ शर्मा, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय,
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा

11. साक्षात्कार : अंक-65, अप्रैल, 1985
संपादक : सोमदत्त
मध्य प्रदेश साहित्य परिषद, भोपाल

12. बिन्दु : अंक-2, अप्रैल-जून, 1969
संपादक : नन्द चतुर्वेदी
उदयपुर

13. कृति संस्कृति संधान : जनवरी-मार्च, 2003
संपादक : सुभाष गताडे
दिल्ली

14. तद्भव : अंक-1
संपादक : अखिलेश
लखनऊ

15. वर्तमान साहित्य : शताब्दी आलोचना पर एकाग्र, जून, 2002
संपादक : अरविन्द त्रिपाठी
शिल्पायन, दिल्ली

16. धर्मयुग (साप्ताहिक) : 14 अक्टूबर, 1962
संपादक, धर्मवीर भारती
टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रेस, मुम्बई

17. हिन्दुस्तान (साप्ताहिक) : 30 सितम्बर, 1962
संपादक : बांकेबिहारी भटनागर
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली

18. New Age (Weekly) : Sep 23, 1963

19. जनसत्ता (दैनिक) : 17 अक्टूबर, 1999